

‘भारतीय आधुनिक शिक्षा’ राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की एक त्रैमासिक पत्रिका है। इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य है शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों, शैक्षिक प्रशासकों तथा शोधकर्ताओं को एक मंच प्रदान करना, शिक्षा के विभिन्न आयामों जैसे-शिक्षादर्शन, शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षा की समकालीन समस्याएं, पाठ्यक्रम एवं प्रविधि संबंधी नवीन विकास, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा का स्वरूप, विभिन्न राज्यों में शिक्षा की स्थिति आदि पर मौलिक तथा आलोचनात्मक चिंतन को प्रोत्साहित करना और शिक्षा के सुधार और विकास को बढ़ावा देना। लेखकों द्वारा व्यक्त किए गए विचार उनके अपने हैं। अतः ये किसी भी प्रकार से परिषद् की नीतियों को प्रस्तुत नहीं करते इसलिए इस संबंध में परिषद् का कोई उत्तरदायित्व नहीं है।

अकादमिक संपादक

राजरानी

अकादमिक संपादकीय समिति

रंजना अरोड़ा योगेश कुमार
किरन वालिया अनुपम आहूजा
एम.वी. श्रीनिवासन सुनीता कुमारी नागर(जे.पी.एफ.)

प्रकाशन प्रभाग के सदस्य

विभागाध्यक्ष अशोक श्रीवास्तव
मुख्य संपादक (प्रभारी) नरेश यादव
सहायक संपादक हेमन्त कुमार
उत्पादन सहायक प्रकाशवीर सिंह

आवरण

साएमा

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
होस्केरे हल्ली एक्सटेंशन
बनाशंकरी III स्टेज
बेंगलुरु 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
धनकल बस स्टॉप के सामने
पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लेक्स
मालीगाँव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

मूल्य

एक प्रति : ₹ 50 वार्षिक : ₹ 200

**परिषद् की 'भारतीय आधुनिक शिक्षा' एवं 'प्राथमिक शिक्षक'
त्रैमासिक पत्रिकाओं के ग्राहकों, पाठकों तथा लेखकों से निवेदन**

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की उपरोक्त दो त्रैमासिक पत्रिकाएं शिक्षा जगत में राष्ट्रीय स्तर तथा राज्य स्तर पर हो रहे अनेक प्रयोगों, अनुसंधानों, कार्यक्रमों व गतिविधियों को पाठकों तक पहुँचाने के सुगम माध्यम हैं। इन पत्रिकाओं का प्रकाशन विशेष रूप से विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत शिक्षाविदों, शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों तथा पाठ्यक्रम निर्माताओं को समर्पित है। इनके प्रत्येक संस्करण में ऐसे नवीनतम लेखों के प्रकाशन को प्राथमिकता दी जाती है जो शैक्षिक नीतियों से संबंधित हों, गुणात्मक सुधार की दिशा में उल्लेखनीय प्रयोग हों, अधिगम को सुरुचिपूर्ण तथा ग्राह्य बनाने की दिशा में निजी अनुभव अथवा शोध कार्य हों, विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों के विवरण हों, शिक्षण-प्रशिक्षण संबंधी प्रभावी सामग्री हो। शैक्षिक उपयोगिता से ये पत्रिकाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं तथा परिषद् इन्हें मूल लागत से भी बहुत कम कीमत पर पाठकों को उपलब्ध कराती है।

इन पत्रिकाओं के लिए उत्कृष्ट स्तर के शिक्षाप्रद प्रभावी लेख सहर्ष स्वीकार किए जाते हैं तथा उनके प्रकाशन के उपरांत समुचित मानदेय देने की भी व्यवस्था है। लेख की विषयवस्तु 2500 से 3000 शब्दों में या अधिक टंकित रूप में होना वांछनीय है। यदि लेखक अपने लेखों के साथ सीडी और स्वयं का ई. मेल का पता भेज सकें तो सुविधा होगी। कृपया अपने लेख निम्न पते पर भेजें –

**विभागाध्यक्ष (पत्रिका प्रकोष्ठ), प्रकाशन प्रभाग
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
श्री अरविन्द मार्ग, नयी दिल्ली 110 016**

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग द्वारा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 के लिए प्रकाशित तथा श्री वृंदावन ग्राफिक्स प्रा. लि., ई-34, सैक्टर-7, नोएडा 201301 (उ. प्र.) द्वारा मुद्रित।

भारतीय आधुनिक शिक्षा

वर्ष 31

अंक 4

अप्रैल 2011

इस अंक में

संपादकीय		3
साहित्य क्यों?	- अशोक वाजपेयी	5
अज्ञेय की भाषा शिक्षा	- शंकर शरण	16
गोपाल कृष्ण गोखले का शिक्षा चिंतन	- रश्मि श्रीवास्तव	24
विद्यालयी पाठ्यक्रम और संगीत शिक्षा	- सुजाता साहा	32
माध्यमिक शिक्षा की गुणात्मकता : चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ	- संजीव शुक्ला	38
अध्यापक शिक्षा—सवालियों के दायरे में	- उषा शर्मा	44
शिक्षा का अधिकार अधिनियम : विभिन्न वर्गों की जागरूकता का विश्लेषणात्मक अध्ययन	- ऋतु भारद्वाज	52
माध्यमिक स्तर पर छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा व उनके माता-पिता की तत्संबंधी आकांक्षा तथा व्यावसायिक आकांक्षा पुनर्निर्धारण का अध्ययन	- ममता बाकलीवाल	69

शिक्षण साधन और बहुसंचार माध्यम	- हीरालाल बाछोटिया	81
कला, संगीत, नृत्य और रंगमंच	- एन.सी.ई.आर.टी.	90
शैक्षिक सरोकारों के बरक्स	- शारदा कुमारी	100
पुस्तक समीक्षा		
डेवेलपिंग टीचिंग कंपीटेंसीज़- एम.एस. बावा बी.एम. नागपाल	- नीरज प्रिया	106

संपादकीय

शैशवावस्था से बाल्यावस्था और फिर आगे की अवस्थाओं की ओर बढ़ते हुए हम अपने परिवारों में भाषा को बोलना और समझना सीखते हैं। भाषा सीखते हुए हम कई और चीजें भी सीखते हैं। अपनी भाषा के माध्यम से हमें, अपने परिवार तथा समुदाय के नैतिक क्रम से परिचित कराया जाता है। हम अपनी दैनिक जिंदगी में नाम पुकारना, पहचान करना, वर्गीकृत करना, श्रेणीबद्ध करना, मूल्यांकन करना इत्यादि सीखते हैं। यही नहीं, अपने समुदाय, अपने इर्द-गिर्द के समाज की संस्कृति के बारे में जानने में भी यह भाषा ही हमारी सहायक होती है। संस्कृति के विषय में जानने के लिए हमें भाषा की मौखिक और लिखित परंपराओं से रूबरू होना होता है। इसी प्रक्रिया में हमारा परिचय साहित्य से होता है और साहित्य हमें दूर-दराज के समाजों की जटिलताओं तथा खूबियों से परिचित करा पाता है। एक यथार्थ में हम स्वयं जीते हैं और दूसरे यथार्थ का सामना करने की हिम्मत साहित्य देता है, तो हमारे जीवन की शुरुआत में मिली भाषा शिक्षा हमें साहित्य और अन्य कई माध्यमों से हमारे समाज और संस्कृति को समझने में हमारी मदद करती है। साहित्य, संस्कृति और भाषा शिक्षा के इसी गहरे नाते को अपने लेखों के माध्यम से आप पाठकों तक पहुँचा रहे हैं अशोक वाजपेयी और शंकर शरण। अशोक वाजपेयी का लेख 'साहित्य क्यों?' साहित्य की आवश्यकता को बखूबी हमारे सामने रखता है और शंकर शरण अपने लेख 'अज्ञेय की भाषा

शिक्षा' के माध्यम से सरलता से समझा देते हैं कि 'संस्कृति की बुनियाद भाषा ही होती है।'

इसमें कोई संदेह नहीं कि परिवार से विद्यालय में कदम रखते हुए बच्चे पहले भाषा पर पकड़ हासिल करते हैं और फिर अन्य विषयों को सीखने की शुरुआत करते हैं। बच्चों की शिक्षा के आरंभिक वर्ष उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास हेतु नींव के वर्ष बन जाते हैं। इसलिए यह जरूरी है कि देश के हर बच्चे की इस नींव को मज़बूत करने के लिए आरंभिक शिक्षा उन्हें अधिकार के रूप में दी जाये। 'गोपाल कृष्ण गोखले का शिक्षा चिंतन' शीर्षक से रश्मि श्रीवास्तव द्वारा लिखा लेख आज्ञादी से पूर्व भारत में शिक्षा संबंधी चर्चा के इतिहास को एक नए रूप में सामने रखता है। इसी कड़ी में एक और कड़ी जोड़ता है—ऋतु भारद्वाज का लेख 'शिक्षा का अधिकार अधिनियम-विभिन्न वर्गों की जागरूकता का विश्लेषणात्मक अध्ययन' जिसमें लेखिका शिक्षा के अधिकार अधिनियम को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए समाज के सभी वर्गों के जागरूक होने की आवश्यकता पर बल देती है।

भारत सरकार द्वारा आरंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण हेतु चलाए गए सर्वशिक्षा अभियान की सफलता देश के माध्यमिक विद्यालयों में दिखना आरंभ हो गई है। आरंभिक से माध्यमिक विद्यालयों में विद्यार्थियों के नामांकन का प्रतिशत बढ़ रहा है। माध्यमिक शिक्षा की गुणवत्ता के मुद्दे

सिर उठाने लगे हैं। माध्यमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के तीन मुख्य उद्देश्यों को लेकर चलने वाला राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान मार्च 2009 से ही प्रभाव में आ गया है। अब तो विभिन्न फ़ोरमों पर इससे संबंधित चर्चाएँ भी आरंभ हो गई हैं। इस अंक में इस पहलू पर दो लेख शामिल किए गए हैं। पहला लेख है 'माध्यमिक शिक्षा की गुणात्मकता: चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ'। संजीव शुक्ला का यह लेख 'राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान' योजना पर संक्षेप में प्रकाश डालता है। दूसरा लेख ममता बाकलीवाल द्वारा लिखा गया है जो एक लघु शोध पर आधारित है। यह लेख माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा की उपयोगिता पर बल देते हुए इसे विद्यार्थियों, विशेषकर छात्राओं, की व्यावसायिक आकांक्षाओं से जोड़ता है।

जब संस्कृति और साहित्य की बात चलती है तो संगीत, कला, नृत्य आदि पीछे नहीं रह सकते। शिक्षा की पाठ्यचर्या में इन्हें अन्य विषयों के बराबर ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। इस परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत करता है एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा विकसित राष्ट्रीय फ़ोकस समूह 'कला, संगीत, नृत्य और रंगमंच' का आधार पत्र जिसके कुछ चुनिंदा अंशों को इस अंक में शामिल किया गया है। इसी कड़ी में सुजाता साहा का लेख 'विद्यालयी पाठ्यक्रम और संगीत शिक्षा' स्वयं ही जुड़ जाता है और पाठकों के लिए इस विषय को और अधिक विस्तारित कर देता है।

जब विद्यालयी शिक्षा परिवर्तन की ओर रुख करती है तो सबसे अधिक सवालियों के दायरे में आते

हैं—हमारे अध्यापकगण और उनकी तैयारी। इस विषय को उठाया उषा शर्मा ने अपने लेख 'अध्यापक शिक्षा—सवालियों के दायरे में' के माध्यम से। इस चर्चा को आगे बढ़ाया है नीरज प्रिया ने एक पुस्तक समीक्षा के माध्यम से जिसमें इन्होंने एम. एस. बावा व बी. एम. नागपाल की पुस्तक 'डेवेलपिंग टीचिंग कंपीटेंसीज़' के बारे में विस्तार से चर्चा की है। अध्यापक शिक्षा के साथ-साथ कक्षा प्रक्रियाओं में शैक्षिक तकनीकी के उपयोग पर भी चर्चाएँ चलती रहती हैं और इसलिए इस विषय पर नए परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता हर फ़ोरम में रहती है। इस अंक में हीरालाल बाछोटिया ने इस विषय पर अपने लेख 'शिक्षण साधन और बहुसंचार माध्यम' के माध्यम से प्रकाश डाला है।

इस अंक में शामिल शारदा कुमारी द्वारा जॉन हॉल्ट की बहुचर्चित पुस्तक 'शिक्षा के बजाए' की समीक्षा पूरे शिक्षातंत्र के उद्देश्यों पर उठे सवालियों का जवाब देने की कोशिश करती है। 'शैक्षिक सरोकारों के बरक्स' नामक शीर्षक से दी गई यह समीक्षा इंगित करती है कि 'शिक्षा के बजाए' पुस्तक ने हमें यह दिशा दी है कि कैसे हम अपने पूरे समाज को एक ऐसी जगह में बदल सकते हैं जहाँ सही मायनों में सीखा जा सकता है। यह सुझाती है कि स्कूली बच्चों को अपना जीवन जीने, अपनी रुचियों को आगे बढ़ाने और सफलता हासिल करने के अपने तरीकों को खोजने की पूरी आज़ादी और पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए।

फिर से आपके विचारों और सुझावों की प्रतीक्षा के साथ।

अकादमिक संपादकीय समिति

साहित्य क्यों?*

अशोक वाजपेयी**

हमारा समय बेहद हिंसक है—संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार इस समय दुनिया में सौ के लगभग युद्ध, बगावत, सैन्य विद्रोह आदि चल रहे हैं। प्रायः सभी धर्म आक्रामक और हिंसक हो रहे हैं—वे दूसरों की क्या अपनी ही बहुलता के प्रति असहिष्णु हो गए हैं। चाहे वो बाज़ार की हिंसा हो, आतंक या उग्रवाद की हिंसा हो। राजनीति और आर्थिकी भी आक्रामक मुद्राएँ अपना रही हैं। बाज़ार पर एकाग्र आर्थिकी कई प्रकार की तानाशाही को, उपभोक्तावाद और लोभ की तानाशाही, एकरूपता की तानाशाही को पाल-पोस रही है। एक ऐसी व्यवस्था का एकाधिकार जिसमें दुनिया विचारों से नहीं चीजों से बदल रही है। मनुष्य के दो महान आविष्कार 'व्यक्ति' और 'समाज' लोप के कगार पर हैं।

हमारे युग में राज्य, राजनीति और आर्थिकी के उच्चतम स्तरों पर झूठ बोला जा रहा है। सच की प्रकृति और स्थिति हमारे समय में समयबद्ध है और वह अत्यंत द्विधाग्रस्त हो गई है। सच का पालन एक शिथिल पड़ती आदत है और निजी तथा सार्वजनिक जीवन में ऐसे प्रलोभन बढ़ गए हैं जो सच के साथ से विरत करते हैं। एकांत के लिए, स्वप्न के लिए, कल्पना के लिए आकाश सिकुड़ रहा है। अधिकाधिक लोग अपनी मातृ-भाषाओं से वंचित हो रहे हैं तथा अपनी जातीय स्मृतियाँ और सांस्कृतिक जड़ें खो रहे हैं। प्रस्तुत व्याख्यान इस जटिल संदर्भ में साहित्य की ज़रूरत पर विचार करेगा।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि ऐसे बहुत सारे बिना बखूबी चल जाता है और इस कारण उन्हें लोग हैं और हमारे समाज में ऐसे बहुसंख्यक कोई हानि होती है, ऐसा कोई अहसास उन्हें होंगे जिनका काम और जीवन साहित्य के नहीं होता।

*प्रस्तुत आलेख मार्जरी साइक्स चतुर्थ स्मृति व्याख्यान 2010 के अवसर पर अशोक वाजपेयी द्वारा दिये गये संभाषण का लिखित रूप है। यह संभाषण 23 अगस्त 2010 को क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान अजमेर में दिया गया और इसे एनसीईआरटी द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।

**श्री वाजपेयी इन दिनों ललित कला अकादमी (राष्ट्रीय कला संस्थान, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली) के अध्यक्ष हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनके जीने में कोई सघनता और सार्थकता नहीं होती। कम-से-कम हिंदी समाज में साहित्य के अध्यापन की जो हालत है और उसके रहते एक बड़ी विडंबना यह है कि जो लोग एम.ए. स्तर तक साहित्य पढ़ते हैं इनमें से अधिकांश अपना अध्ययन समाप्त होने के बाद साहित्य से संबंध तोड़ लेते हैं और उनकी साहित्य में आगे कोई रुचि नहीं रह जाती। अगर ऐसा न होता तो हिंदी साहित्य कम-से-कम उच्च स्तर के अतिरिक्त पाँच हजार पाठक या रसिक हर वर्ष पा सकता था। इसलिए कुल मिलाकर हमारे यहाँ साहित्य एक अल्पसंख्यक मामला है। पर इससे पहले कि हम साहित्य के औचित्य पर कुछ विचार करें यह समझना जरूरी है कि जिस समय में यानि हमारे समय में, हम विचार कर रहे हैं, वह है कैसा?

हमारा समय मनुष्य के इतिहास में संभवतः सबसे हिंसक समय है। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में सारे संसार में जितनी हिंसा फैली है उतनी बीसवीं सदी के पहले दशक में कतई नहीं थी और न ही उसके आखिरी दशक में। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट यह बताती है कि बकायदा युद्ध के अलावा, जिसमें अफ़गानिस्तान, मध्यपूर्व और यूरोप के कई देश शामिल हैं, बगावत, सैन्य विद्रोह, सशस्त्र प्रतिरोध आदि को मिलाकर सौ से अधिक गृह युद्ध चल रहे हैं। हमारे देश में ही कश्मीर, उत्तर-पूर्व और नक्सल प्रभावित हिस्से अशांत और लगभग रोज़ाना हिंसा की लपेट में हैं। हमारे समय की एक बड़ी विडंबना यह है कि भूमण्डलीकृत समय सबसे

हिंसक समय है। यह हिंसा निजी या सैन्य या पुलिस या विद्रोहियों की सशस्त्र हिंसा तक सीमित नहीं है। बल्कि इसका आयत बढ़ता ही जा रहा है—मनोरंजन, फ़ैशन, खेलकूद, मीडिया आदि सभी इन दिनों आक्रामक हो उठे हैं—ये सभी विधाएँ तथाकथित 'किलर इंस्टिक्ट' याने जानमारू भावना से प्रेरित हैं और उसे स्वीकार करने में उन्हें कोई संकोच तक नहीं है। धीरे-धीरे सभी धर्म-हिंसा और आक्रामकता की ओर बढ़ते जा रहे हैं। यह बढ़त अब दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णुता और हिंसा तक पहुँच चुकी है। उनमें से ज्यादातर न सिर्फ़ धार्मिक बहुलता के प्रति बल्कि स्वयं अपनी बहुलता के प्रति, जो सदियों से उनका महत्वपूर्ण पक्ष रही है, असहिष्णु हो चुके हैं। भारत में हिंदुत्व और ज़िहादी इस्लाम दोनों ही इसके उदाहरण हैं। धर्मों का बहुलता से अपसरण एक बेहद खतरनाक विकास है और इससे समूचे संसार की सांस्कृतिक बहुलता की क्षति हो रही है।

भारतीय समाज में स्त्रियों और दलितों के प्रति हिंसा जगज़ाहिर है। हमें सांप्रदायिक से लेकर आतंकवादी हिंसा का लगातार शिकार होना पड़ रहा है। अपराध, घूसखोरी, चालबाज़ी, धूर्तता और मक्कारी को एक तरह की सामाजिक मान्यता मिलने लगी है। ये सभी हिंसा के प्रकार हैं। सभी जानते हैं कि कितनी बड़ी संख्या में हमारे विधायकों और सांसदों में ऐसे लोग हैं जिनका अपराधों का रिकॉर्ड है। बाज़ार की बढ़ती हिंसा भी इस कदर व्यापक हो चुकी है कि हम उसको नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। धन-दौलत की

हिंसा का एक दैनंदिन उदाहरण यह है कि हर दिन कुछ लोग धनाद्यों या नवधनाद्यों की तेज़ भागती गाड़ियों से कुचले जाते हैं। दुर्भाग्य से मीडिया हिंसा और अपराध को हमारे ध्यान के केंद्र में लाने की अथक कोशिश करता रहता है।

इस समय संसार हिंसा के अलावा झूठ के आधिपत्य में भी है। थोड़ी अतिशयोक्ति कर कहा जा सकता है कि हमारा समय झूठ की दिग्विजय का समय है। ईराक पर दो महाशक्तियों ने जो सैन्य आक्रमण किया था उसका कारण बताया था कि उस देश के पास व्यापक नाश करने वाले हथियारों का भंडार है। यह दावा संसार की उन महाशक्तियों के राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री ने किया था। ईराक को तहस-नहस किए और उस पर कब्ज़ा किए इतने बरस हो गये और आज तक एक भी ऐसा हथियार, खुर्दबीन से खोजने के बाद भी नहीं मिला। हमारे यहाँ गुजरात में अल्पसंख्यकों का नरसंहार भी ऐसे ही झूठ बोलकर किया गया। दुखद यह है कि इस नरसंहार के लिए ज़िम्मेदार लोगों को आज तक सज़ा नहीं मिली है—उन पर ठीक से मुकदमे तक नहीं चल पा रहे हैं। अजब तमाशा यह है कि नेता, अभिनेता और खिलाड़ी, जिन्हें हमारे समाज का असली नायक बना दिया गया है, रोज़ झूठ बोलते हैं और उनमें से किसी का बाल भी बाँका नहीं हो पाता। हमारे राष्ट्र का आप्तवाक्य भले 'सत्यमेव जयते' है, पर हर स्तर पर झूठ ही जीतता नज़र आ रहा है। कुछ ऐसा माहौल बन गया है कि जो झूठ नहीं बोल सकता वह समाज में दयनीय, हास्यास्पद या अप्रासंगिक सा हो रहा है।

कहा जाता है कि अब हम विश्वग्राम में रहते हैं—सही तो यह है कि हम एक विश्वमंडी में ढकेल दिए गए हैं। यह और बात है कि ऐसे ढकेले जाना हमारा अपना चुनाव भी है। सब कुछ पड़ोस में आ गया है—संचार, संवाद और यातायात के माध्यम इतने बढ़ और तेज़ हो गए हैं कि कोई भी देश किसी देश से दूर नहीं रह गया है। विडंबना यह है कि स्वयं हमारा पड़ोस लगभग गायब हो चुका है। अब हम पड़ोस या मुहल्ले में नहीं कॉलोनी में रहते हैं और हमें इसकी खबर तक कई बार नहीं होती कि अगल-बगल कौन रहते या क्या करते हैं? एक दुःखद स्मृति यह भी है कि गुजरात के नरसंहार में पड़ोसियों की बड़ी सक्रिय भूमिका थी और उन्होंने ही हत्यारे लोगों को जानकारी दी कि कौन-सा मकान या दुकान किसी अल्पसंख्यक की थी।

गालिब ने उन्नीसवीं सदी में कहा था— 'बाज़ीच-ए-अत्फ़ाल है दुनिया मेरे आगे, होता है शब-ओ-रोज़ तमाशा मेरे आगे'। तब वह शायद उतना सच नहीं था जितना कि आज है। सारी दुनिया को तमाशा बनाया जा रहा है और हममें से अधिकांश सिर्फ़ तमाशाबीन बनकर रह गए या रह जाएँगे। हम कुछ करेंगे नहीं, सिर्फ़ देखेंगे। यह विश्वव्यापी निरुपायता का भी समय है। जो हो रहा है उसमें शामिल होने या उसे बेचारगी के साथ देखने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। यह दावा किया जा रहा है कि विकल्पों का युग बीत चुका—हमारा समय निर्विकल्प समय है। यह निरुपायता हमें सपने देखने से भी रोकती है,

विकल्प खोजने से विरत करती है। दुनिया को बदलने और बेहतर करने के कई तरीके हो सकते हैं या होने चाहिए यह बात पीछे ढकेल दी गई है। समता, स्वतंत्रता और न्याय के जो क्रांतिकारी मूल्य और लक्ष्य थे उनसे हम अपसरण कर चुके हैं। पुराना वर्ग विभाजन भी अब अप्रासंगिक हो गया है क्योंकि नया वर्ग विभाजन सिर्फ बनाने वाले, बेचने वाले और खरीदने वाले को मान्यता देता है। बाज़ार ने समाज को अपदस्थ कर दिया है। अब तो राजनैतिक दल और सत्ताएँ अपने घोषणापत्रों में निस्संकोच यह लिखते हैं कि वे बाज़ार को क्या सुविधाएँ देंगे—अक्सर ये सुविधाएँ व्यापक समाज को दी जाने वाली सुविधाओं से कहीं अधिक और खर्चीली होती हैं।

उनकी अन्य जो भी उपलब्धियाँ रही हों और वे इतनी कम भी नहीं हैं। हम एक ऐसे मोड़ पर पहुँच गए हैं कि हम इस दुःखद सच्चाई से इनकार नहीं कर सकते कि अधिक समतामूलक, अधिक स्वतंत्र, अधिक न्यायसंगत, अधिक मानवीय और अधिक शोषणमुक्त दुनिया बनाने में राजनीति, धर्म और विज्ञान सफल नहीं हुए हैं। राजनीति आज प्रबंधन की विधा है और उसका मूल्यों से कोई संबंध नहीं रह गया है। धर्म स्वयं अपने अध्यात्म से विमुख हो चुके हैं। विज्ञान अपने दायित्व-बोध से च्युत हो चुका है। पहले लगता था कि कम-से-कम हिंदी के संदर्भ में, राज समाज के बजाय अधिक बढ़ रहा है। अब लगता है कि राज और समाज दोनों ही बाज़ार के आगे समान रूप से निरुपाय हो चुके हैं। 'व्यक्ति' और 'समाज' मानवता के दो क्रांतिकारी

आविष्कार और अवधारणाएँ रही हैं। वे भी अब लोप के कगार पर हैं। खान-पान, पहनावे, मनोरंजन, भाषा, मुद्राओं और भंगिमाओं आदि में इस कदर एकरूपता आ रही है कि लगता है कि सारी राजनैतिक और आर्थिक विभिन्नताओं के बावजूद या कि उनके ऊपर एकसेपन की एक तानाशाही इस समय विश्वव्यापी हो चुकी है। इंटरनेट आदि के माध्यम से अंग्रेज़ी का एक नया साम्राज्यवाद फल-फूल रहा है और संसार की सैकड़ों मातृभाषाएँ और उनमें निबद्ध जातीय स्मृतियाँ लुप्त होने की ओर बढ़ रही हैं। सेलफोन आदि की सुविधा हो जाने से हम लगातार बहुत बात कर रहे हैं, एक नई संवादरति पैदा हो गई है। लेकिन हममें से अधिकांश इसकी मिसाल भर हैं कि 'बोले तो बहुत लेकिन कहा क्या?'। अधिकांश लोग इस बतकही के बावजूद दरअसल बहुत कम शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। यह शब्द-संकोच हमारी सच्चाई पर पकड़ को ढीला कर रहा है। जिसके पास शब्द कम होते हैं उसके पास मानवीयता और दुनिया के अहसास भी कम होते हैं।

इधर चीज़ों का उत्पादन और सुलभता बहुत बढ़ी है। यह बाज़ार का स्वार्थ ही सही, उपहार है। हमारे घर, विशेषतः मध्यवर्गीय घर, चीज़ों के गोदाम होते जा रहे हैं। पहले दुनिया विचारों से बदलती है ऐसा माना जाता था। अब यह मान्यता व्याप रही है कि दुनिया चीज़ों की बहुतायत से बदल जाएगी। हमारे सपने तक बहुत हद तक चीज़ों के सपने हो गये हैं। चीज़ें हमें सच्चाई और सपनों दोनों ही राहों से लूटपाट, हड़प और लोभ-लालच की नयी संस्कृति के दायरे में

खींच रही हैं। विचार की उतनी अवमानना जितनी हमारे समय में हो रही है पहले कभी नहीं हुई थी। इतना ही नहीं धीरे-धीरे हमारे जीवन में एकांत की जगह और ज़रूरत कम हो रही है। हम अकेले पड़ जाने से घबराने लगे हैं। हमें अब शायद यह याद भी नहीं आता कि जिन लोगों ने दुनिया को बदलने के सपने देखे, क्रांतिकारी विचार और आविष्कार दिए वे सब अकेले थे, मार्क्स, गांधी, आइंस्टाइन आदि। एक तरह की विचित्र समाजहीन सामुदायिकता बढ़ रही है और यह प्रार्थना का नहीं बेसुरे कीर्तन का समय है जिसमें अपना सुर मिलाना कई बार हमारी मजबूरी बन रहा है। अब गठबंधन सिर्फ राजनीति में ही नहीं है—सत्ता और धर्म, सत्ता और बाज़ार, सत्ता और विज्ञान, सत्ता और मनोरंजन आदि इस समय गठबंधनों की बहुतायत के ही रूप हैं। मुक्तिबोध के शब्द याद करते हुए कहा जा सकता है कि हमारा समय अन्तःकरण के आयतन के संक्षिप्त होते जाने का समय है। वह ऐसा भी है जिसमें अतिरेक और अतिक्रमण का एक पूरा शास्त्र ही विकसित और लागू किया गया है। मर्यादाओं का अतिक्रमण अब दैनिक घटना है जिस पर एतराज उठाने तक की फुरसत हमारे पास इस तेज़ी से भागते समय में नहीं रह गयी है। सारी अधिकार-चेतना के बावजूद हमारा समय बेजा कब्जे का समय है।

हमारे समय का एक बड़ा अंतर्विरोध यह है कि कहा तो यह जा रहा है और किसी हद तक सही है कि यह सदी एशिया की होने जा रही है जिसमें चीन और भारत की केंद्रीय उपस्थिति

और भूमिका होगी पर सच तो यह भी है कि इस बीच पश्चिम ने अपने को पूरे विश्व में केंद्रीय बना लिया है। इस हद तक कि उसका पंचांग अब विश्व-पंचांग हो गया है और बाकी सब पंचांग-जिनसे अब भी भारत में और अन्यत्र लोकजीवन चलता है, पीछे छूट रहे हैं। पहले संसार में बहुसमयता थी और अब वह एकसमयता में फँस रहा है। दूसरे, जो एशिया ऊपर रहा है उसका आदर्श अंततः पश्चिम ही है। यहाँ राजनैतिक व्यवस्था, सत्ता, बाज़ार, मनोरंजन, शिक्षा आदि सब धीरे-धीरे पश्चिमी ही हो रहे हैं या हो गए हैं। इसलिए हमारा समय पश्चिमी समय है जबकि, याद करें, बीसवीं सदी का पहला दशक इस कदर पश्चिमी समय नहीं था।

यह नक्शा कुछ और आगे बढ़ाया जा सकता है लेकिन इतना काफ़ी होना चाहिए यह जताने के लिए कि हमारा समय किस तरह की चिंताओं, उलझनों, विडंबनाओं और कठिनाइयों से भरा समय है। यह इतना जटिल भी है कि उसे सामान्यीकृत या सरलीकृत करना कठिन है। यों तो संख्या के मान से पिछली सदी में मनुष्य के ज्ञात इतिहास में सबसे अधिक लोग बेघरबार हुए और यह क्रम पूरी आक्रामकता के साथ चालू सदी में भी चल रहा है। यह तो हुई भूगोल में शरणार्थी होने की दारुणता। पर उससे कम दर्दनाक नहीं है हमारा भारत में ज्ञान, विचार, आचार आदि में भी शरणार्थी हो जाना—हम अपने से ही पराये हो चुके हैं। हमने जो समानांतर विधियाँ और सारणियाँ इन क्षेत्रों और अनुशासनों में विन्यस्त और विकसित की थीं, उन्हें हमने ही अप्रासंगिक

मान लिया है। उनका कोई दबाव या महत्त्व सोच-विचार और जिज्ञासा के क्षेत्रों में दिखाई नहीं देता है—अगर है तो बहुत क्षीण। कई बार तो इसलिए कि पश्चिम ने उसमें कुछ दिलचस्पी दिखाई है।

संक्षेप में कहें तो हमारे समय में राजनीति का विघटन प्रबंधन में, धर्म का उन्माद में, सौंदर्य का ग्लैमर और फ्रैशन में, समाज का बाजार में, व्यक्ति का अनुव्यक्ति में, मुक्ति का मुक्त व्यापार में और परंपरा का शाश्वत वर्तमान में हो चुका है। भारत जितना बाजारू ढंग से दमक रहा है उतना ही वह असहिष्णुता और हिंसा से भी दमक रहा है। दूसरों के लिए जगह बनाने या देने में हमारा संकोच बढ़ रहा है। ज्ञान में पश्चिम की कुलीगिरी करने में हमें कोई शर्म का अहसास नहीं होता। स्वयं अपने इतिहास में अब हम शायद सबसे नकलची युग हैं।

इस निराश करने वाले परिदृश्य में हम साहित्य की कुछ जगह खोजने की कोशिश करते हैं। सबसे पहले तो यह कि जैसे राजनीति/धर्म/विज्ञान आदि के अपने-अपने पक्ष हैं वैसे ही साहित्य का भी अपना पक्ष है। जीवन में आस्वाद, रस और आनंद खोजना-बढ़ाना उसका सौंदर्यमूलक पक्ष है। हमें वृहत् और विराट् से जोड़ने और स्पंदित करने का उसका आध्यात्मिक पक्ष है। समता, स्वतंत्रता और न्याय पर ज़िद करने वाला, उनके लिए एक तरह से लगातार सत्याग्रह करनेवाला उसका लोकतांत्रिक पक्ष है। ज्ञान और अनुभव के विखंडन और विशेषीकरण के बरक्स उसकी समग्रता और संग्रथन पर आग्रह करनेवाला

उसका बौद्धिक पक्ष है। भाषा को उसके विविध रूपों में सक्रिय-सजीव रखने का उसका सामाजिक पक्ष है। साहित्य निष्पक्ष व्यापार नहीं है, न ही वह तटस्थ रहता है—उसकी अपनी पक्षधरता है।

साहित्य जीवन की समग्रता, बहुलता, उसकी अपर्याप्तताओं और अंतर्विरोधों का, उसके अधूरेपन और संपूर्णता की आकांक्षा का उत्सव मनाता है। वह किसी एक आवाज़ या अनुभव या दृष्टि का वर्चस्व स्वीकार नहीं करता। वह कई लेकिन अद्वितीय आवाज़ों द्वारा सच और सच्चाई की बहुलता पर इसरार करता है। उसका नैतिक अधिकार और आभा इस बात से आते हैं कि वह लगातार अपने पर, अपने माध्यम की अर्थवत्ता पर और अपने सच पर संदेह करता है। हमारे एक कवि अज्ञेय ने, जिनकी जन्मशती इन दिनों मनाई जा रही है, कहा है—‘मैं सच लिखता हूँ/लिखकर सब झूठा करता जाता हूँ।’ धर्म या विज्ञान या राजनीति हमारे समय में ऐसा आत्मसंदेह ग्रस्त करता हो इसका बहुत कम प्रमाण देखने को मिलता है। उलटे उनमें से हरेक यह मानता है कि सच पर उसका न सिर्फ़ मौरूसी हक बल्कि एकाधिकार है। साहित्य का सच खुला और वैध्य होता है। बल्कि कई मायनों में अधूरा सच होता है—जब तक पाठक या रसिक उसमें थोड़ा-सा अपना सच न मिलाएँ तब तक वह पूरा नहीं होता। साहित्य की इतनी सारी व्याख्याएँ इसी प्रक्रिया के कारण संभव होती हैं। साहित्यिक सच ऐसा सच भी है जो न सिर्फ़ अपने में दूसरे को हिस्सेदार बनाता है बल्कि दूसरे में स्वयं अपना सच रचने-पहचानने का उत्साह भी उपजाता

है। जो अपने ऊपर शक करता है उसे ही यह हक है कि वह दूसरों पर शक कर सके। जो अपने को प्रश्नांकित करता है उसे ही यह अधिकार है कि वह दूसरों को प्रश्नांकित करे। साहित्य वह जगह है जहाँ समाज, राजनीति, धर्म, व्यक्ति, व्यवस्था, मान्यता, नैतिकता आदि सब प्रश्नांकन के घेरे में आते हैं। वह इस समय संसार की सबसे खुली और लोकतांत्रिक प्रश्नभूमि है। ऐसा प्रश्नांकन समाजविज्ञान और दर्शन जैसे गिने-चुने अनुशासनों को छोड़कर बाकी से गायब हो चुका है। साहित्य हमें, साथ ही साथ, बार-बार याद दिलाता है कि फ़ैसला मत दो क्योंकि तुम पर भी फ़ैसला दिया जायेगा। साहित्य का परिसर सहानुभूति का परिसर होता है—निर्णय का बाड़ा नहीं। यह नहीं कि उसे सही-गलत की पहचान या समझ नहीं होती। यही कि नैतिक बुद्धि उसे बराबर इस संभावना की ओर उन्मुख रखती है कि हो सकता कि सही का विलोम भी सही हो। वैसे भी ऑस्कर वाइल्ड ने इसरार किया था कि कलात्मक सच वह है जिसका विलोम भी सच होता है। यह इकहरी और सपाट समझ के बजाय अधिक जटिल समझ का आग्रह है।

हम अक्सर मनुष्यता या समाज को समझने और विश्लेषित करने के लिए कई तरह के वर्गीकरण करते हैं—सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, विचारधारात्मक आदि। साहित्य इन सबसे परे सकल-समग्र मानवीयता की खोज करता है, अपनी उत्कट सघनता, अपनी तात्कालिक और अंतवर्ती समग्रता में। उसके लिए सब कुछ एक साथ है—मनुष्य,

उसका समाज, उसका अंतर्लोक, उसका ब्रह्मांड। वह अधिकतर विश्लेषण नहीं करता—उसका काम संश्लेषण का है।

जिस समय में हम विराट् सामान्यीकरणों और सरलीकरणों के घटाटोप से घिरे हैं, साहित्य उनका प्रतिरोध करता है। वह उनके विरुद्ध एक तरह की सिविल नाफ़रमानी है। वह हर तरह की तानाशाही का, फिर वह बाज़ार की हो या विचार की, सत्ता की हो या धर्म की, प्रतिरोध है। वह एक ऐसा अनुशासन भी है जो स्वयं अपने सच की कोई सत्ता स्थापित नहीं करता। वह निरंतर अपने को वैध्य रखता है। दूसरी ओर, वह सच की कोई वर्णव्यवस्था भी स्थापित नहीं होने देता। साहित्य में छोटे-से-छोटे सच को भी खराब न होने दिया जाये, इसका जतन किया जाता है। इस अर्थ में वह मनुष्य का सबसे पुराना और टिकाऊ जनतंत्र है कि उसमें ऊँच-नीच का कोई भाव नहीं है और एक तरह की अपार सम्यकता और समानता सबको सुलभ है।

साहित्य हमें अकेलेपन का अवसर भी देता है लेकिन ऐसे कि हम दूसरों से कट न जाएँ। वह जिस एकांत में हमें जब-तब ले जाता है उसमें दूसरे कई बार अपनी अनुपस्थिति से भी उपस्थित रहते हैं। दरअसल हर समय साहित्य की सीधी-सी सीख यही है कि हम अकेले नहीं हैं, कि दूसरे हैं और साथ हैं। साहित्य साहचर्य का मामला है—हम हैं क्योंकि दूसरे हैं और हमारी साझा नियति और मुक्ति है। वह हमें यह भी बताता रहता है कि दूसरे भी हम जैसे ही हैं और यह कि दूसरे न होते तो हम भी न होते और हम

और दूसरे मिलकर ही यह दुनिया बनाते-बिगाड़ते हैं।

एक स्तर पर साहित्य हमारे क्षीण और शिथिल पड़ते ब्रह्मांड-बोध को भी सक्रिय रखता है—वह जो नहीं दिखता या पकड़ में आता उससे भी हमें जोड़ता और संवाद-रत कराता है। वह हमें, इस तरह भी, सँकरेपन और आत्मरति की जकड़बंदी से मुक्त करता है। हम महसूस कर पाते हैं कि पृथ्वी, आकाश, आकाशगंगाएँ, चंद्र और दिवाकर, सागर और नदियाँ, पक्षीगण, वृक्ष और लताएँ, अग्नि, जल, वायु आदि सब हमारे संसार का ज़रूरी और सुंदर अंग हैं और हमारे होने में इन सबकी निर्णायक भूमिका है। हमें सिर्फ़ हमारा समाज भर नहीं रचता, समूचा ब्रह्मांड उसमें कुछ-न-कुछ योगदान करता है। हम एक तुच्छ घटना नहीं हैं—हम स्वयं ब्रह्माण्ड के लिए आश्चर्य हैं। यह हमारे सीमित भौतिक-मानसिक जीवन को विराटता का आयाम देता है। एक ऐसे समय में जब इतनी सारी शक्तियाँ हमारी तुच्छता उजागर करने में जी-जान से व्यस्त हैं, साहित्य उनसे बिलकुल अलग कुछ उदात्त करता है।

साहित्य सदियों से मनुष्य की स्वप्नभूमि रहा है। मंगल और विराट के, उदात्त और विशाल के अनेक सपने सबसे पहले साहित्य में ही देखे गए थे—हमारे वेदों और महाकाव्यों में इसका विपुल साक्ष्य मिलता है। हमारे स्वप्नहीन समय में इसका एहतराम करते हुए कि दुर्भाग्य से मनुष्य की अपनी करतूतों की वजह से अनेक महान स्वप्न इतिहास के धूरे पर पड़े हैं या दुःस्वप्नों में बदल गए हैं, साहित्य इस स्वप्न का दबाव आज दृश्य पर बनाए हुए है कि हम विकल्पहीन नहीं हैं, कि

दुनिया बदली और बेहतर की जा सकती है, कि एक ही दृष्टि या विचार या व्यवस्था का वर्चस्व अनिवार्य नहीं है। यह दावा बिना हिचक किया जा सकता है कि साहित्य इस समय उन थोड़ी-सी जगहों में बना है जिनमें सच, विचार और अनुभव की बहुलता और विशिष्टता का सहज सम्मान और विन्यास होता है। शायद यही कारण है कि साहित्य के सच बासी नहीं पड़ते और कालांतर में अतिक्रमित नहीं होते जैसे कि विज्ञान आदि के होते रहते हैं। साहित्य किसी को नहीं बख्शाता, न अपने को, न देवताओं और दुष्टों को, न संतों और धूर्तों को, न नायकों- अधिनायकों-खलनायकों को। यहाँ तक कि वह सब और सुंदरता पर न्याय की ओर से चौकसी करता है। उसके लिए, कम-से-कम अब, स्वतंत्रता-समता-न्याय की मूल्यत्रयी ऐसी है कि उस पर किसी तरह समझौता करने को वह तैयार नहीं। राजनीति प्रायः इन मूल्यों में से किसी की बलि दूसरे बचे मूल्यों के लिए दे सकती है पर साहित्य में यह संभव नहीं होता। इसीलिए साहित्य हमारे समय का अन्तःकरण भी है—उसमें जो स्वतंत्रता को बाधित करता है, समता के विरुद्ध जाता है और न्याय से समंजस नहीं है उसके विरुद्ध लगातार आवाज़ उठती रहती है। यह आकस्मिक नहीं है कि साहित्य में शोषित-दलित और शोषण और अन्याय के शिकार लोगों को बराबर जगह दी जाती रही है। जो समाज में नहीं बोल पाते वे साहित्य में मुखर हो सकते हैं। जिसके पास आवाज़ नहीं है या कि उसके लिए अवकाश नहीं है, साहित्य उसे आवाज़ देता है। साहित्य की अदालत में सिर्फ़ आत्माभियोग की

इजाजत होती है—आप दूसरों पर दोषारोपण नहीं कर सकते, सिर्फ अपनी ज़िम्मेदारी-भागीदारी का हलफ़ भर उठा सकते हैं।

भाषाएँ मनुष्य की समृद्ध विरासत का बड़ा मूल्यवान हिस्सा हैं। उनमें हमारी जातीय स्मृतियाँ निबद्ध हैं। उनका संकट में पड़ना हमारी स्मृति के शिथिल पड़ने के बराबर है। साहित्य भाषाओं की इस धनी बहुलता को सक्रिय, सजीव रखता है। वह समाजों को स्मृतिहीन और शब्द-संकोचग्रस्त होने से बचाता है और भाषाओं को उनकी सूक्ष्मता, संवेदनशीलता, कल्पनामयता, जटिलता और विविधता में सक्रिय, रखता है। यह उसका सबसे बड़ा सामाजिक कर्तव्य और योगदान है। दुनिया की सांस्कृतिक विविधता के लिए भाषाओं की सजीव उपस्थिति और सक्रियता बहुत महत्वपूर्ण तत्व है। दुनिया की हज़ारों मातृभाषाओं को बचाने के लिए वैसे ही विश्व-अभियान की ज़रूरत है जैसे कि पर्यावरण के लिए संभव हुआ है।

जो साधारण है, आर्थिक दृष्टि से विपन्न और असमर्थ है उसे राजनीति, बाज़ार के दुरातंक में, हाशिये पर खिसकाती जाती है लेकिन साहित्य में साधारण की महिमा है। पिछली एक सदी का हिंदी साहित्य ऐसी ही महिमा की प्रतिष्ठा का साहित्य रहा है। यह नहीं कि उसने उस महिमा का सिर्फ़ मंडन किया है, वह जानता है कि उसके लिए विकट संघर्ष ज़रूरी है। साहित्य ने यह संघर्ष हमारे यहाँ भक्तिकाल से लेकर आज तक किया है और उसी का नतीजा है कि साधारण आज साहित्य के केंद्र में है। साहित्य हमें अपनी साधारण ज़िंदगी के आशय, अंतर्ध्वनियाँ

और महत्त्व समझने में मदद करता है। वह साधारण की गरिमा का भी उद्घाटन करता है। उसके संघर्ष, उसके अंतर्विरोधों और विडंबनाओं का भी। आज जब राजनीति, बाज़ार, मीडिया आदि सभी साधारण को दबाने-बरकाने और हाशिये पर फेंकने पर आमादा हैं, साधारण का लगभग एकमात्र शरण्य साहित्य है। यह उसका असली राजनैतिक रोल है। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि आज साहित्य बाज़ार राजनीति का असली और साहसिक प्रतिपक्ष है।

यह कहा जा सकता है कि आज साहित्य प्रतिरोध की रंगभूमि; निजता और सामाजिकता के बचे रहने की कल्पनाभूमि; विचार को बहिष्कृत करने, प्रबंधन को सब कुछ मानने की व्यवस्था के विरुद्ध रणभूमि; निरंतरता का आकाश; परिवर्तन की वसुंधरा; मानवीय नियति; सफलता-समग्रता, स्थानीयता के साथ सार्वभौमिकता की प्रश्न भूमि; मनुष्य के संसार, समाज, प्रकृति, ब्रह्मांड के अटूट संबंध की बोधभूमि, मनुष्यता की असमाप्य बहुलता की जयभूमि; कलियुग में आत्म की धर्मभूमि है। वह मनुष्य की चरम जिज्ञासाओं का अंतिम अरण्य है।

हम सभी, यानि वे जो साहित्य पढ़ते-गुनते हैं और जिन्हें ज़िंदगी के आपाधापी से अभी भी फुरसत और समय है, जानते हैं कि साहित्य हमें अपने-आप में रहने देकर भी दूसरा बनाता है। जिन्हें हम कतई नहीं जानते उनके लिए हम आँसू बहाते हैं। साहित्य सिर्फ़ दूर से, किसी रामभरोसे टुकुर-टुकुर नहीं देखता, वह 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' के अनुरूप बीचों-बीच खड़ा

होता है—हमारे साथ। वह बार-बार हमें जताता है कि मानवता एक शामिलता खाता है और जो कुछ होता है हम उसके लिए ज़िम्मेदार हैं—हम अपने लिए तो ज़िम्मेदार हैं ही दूसरों के लिए भी हमारी ज़िम्मेदारी है। वह हमारे छोटे-छोटे अकिंचन सत्यों को सहेजता है और उन्हें किसी बड़े सच का गुटका या संस्करण बनने या उसमें उनके विलीन हो जाने का प्रतिरोध करता है। मानवीय संबंध हर समय बदलते रहते हैं। हमारे समय में इस बदलाव में तेज़ी आई है। साहित्य अक्सर इन तब्दीलियों का सबसे पहला रजिस्टर होता है। दर्ज़ करने के साथ-साथ वह हमें यह अहसास भी दिलाता है कि सारे बदलाव के बाद भी मनुष्यता के कुछ तत्व हैं जो समयातीत हैं—जैसे प्रेम, करुणा, त्याग, सहानुभूति, सहयोग आदि। साहित्य की बुनियादी नैतिक संवेदना में परिवर्तन के प्रति खुलापन होता है लेकिन वह उसके नैतिक स्थायित्व का दबाव भी बनाए रखता है।

समाज में और मनुष्य के स्वाभाविक प्राकृतिक पर्यावरण में ऐसा बहुत कुछ है और होता रहता है जो खुद बोल नहीं सकता। साहित्य यह ज़िम्मेदारी सदियों से निभा रहा है कि वह इन सभी को वाणी देता है। उसका एक ज़रूरी काम हर समय अलक्षित और अविवक्षित को लक्षित और विवक्षा के दायरे में लाना है। साहित्य के भूगोल में मानवीय संबंध सिर्फ़ मनुष्यों तक महदूद नहीं रहते। वहाँ मनुष्य सिर्फ़ मनुष्य से नहीं, प्रकृति से, पदार्थों और विचारों से, पूर्वजों और देवताओं से, संसार और ब्रह्मांड से जुड़ता, प्रतिकृत होता और संवाद करता है।

साहित्य को दूसरा इतिहास यों ही नहीं कहा गया है। अर्से से इतिहास युद्ध और शांति, विजय और पराजय, राजवंश और सैन्य तथा आर्थिक शक्तियों की उथल-पुथल की गाथा रहा है। इधर उसमें कुछ परिवर्तन आया है—अब लोगों का, नीचे से इतिहास लिखा जाने लगा है हालाँकि विडंबना यह है कि उसको अधिकांश लोगों की भाषाओं में नहीं लिखा-पढ़ा जाता। जो इतिहास से छूट जाता है, उसका जीवंत अनुभव और उत्कृष्ट स्मृति साहित्य में ही सुरक्षित रह पाती है। यह अकारण नहीं है कि जब किसी काल का इतिहास लिखा जाता है और उसमें पर्याप्त पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिलता तो इतिहासकार अन्य स्रोतों की ओर मुड़ते हैं और इनमें एक अनिवार्यतः तत्कालीन साहित्य होता है। यह इसलिए भी कि साहित्य के लिए हमेशा सारी मानवता ही विषय होती है। वह, बिना ऐसा दावा किए, मनुष्यता का दूसरा इतिहास होता है।

अपने आदर्श रूप में साहित्य दूसरों के विचारों का उपनिवेश होने के बजाय अपनी अलग वैचारिक सत्ता रखता है। वह दूसरे क्षेत्रों और अनुशासनों में विकसित विचारों को हिसाब में लेता है, उनसे संवाद और मुठभेड़ करता है और उनमें से जो उसे काम का लगे उसे अपनाता भी है। लेकिन वह स्वयं अपनी वैचारिक दृष्टि अर्जित और प्रस्तुत करता है।

जो लोग अपने जीवन से, दी गयी दुनिया और व्यवस्था से, उन परिवर्तनों से, जो उन पर लाद दिये गए हैं और जिनमें उनकी कोई हिस्सेदारी नहीं रही है, संतुष्ट हैं, साहित्य निश्चय ही उनके किसी काम का नहीं है। जिन्हें लगता है कि

दुनिया में कुछ खास फेरबदल नहीं किया जा सकता और अंततः मानव व्यर्थ हो जाने को अभिशप्त है, साहित्य उनके भी काम का नहीं हो सकता। जिन्हें यह यकीन है कि उनके पास सच और सब कुछ है और जिन्हें कोई अभाव नहीं सालता साहित्य को उनसे भी कुछ कहना नहीं हो सकता। इनके बरक्स जो लोग असंतुष्ट हैं, जिन्हें आत्मा और अन्तःकरण के कई अभाव और भूलें सालते हैं, जो बदलाव और विकल्प की संभावना देख पाते हैं, जिन्हें लगता है कि भाषा पर बेहतर पकड़ उन्हें अधिक सघन-सटीक मनुष्य बनाती है, साहित्य उनको संबोधित है, उन्हें कुछ शक्ति और सेहत, ऊर्जा और बेचैनी, सपने और उत्सुकताएँ दे सकता है। आध्यात्मिक और बौद्धिक रूप से निठल्लों के लिए साहित्य किसी तरह का रामबाण नहीं हो सकता। साहित्य घावों पर मरहम लगा सकता है पर उन्हीं के जिन्हें इसकी पहचान हो कि औरों के भी ज्यादा गहरे घाव हैं, कि हम सभी कभी-न-कभी एक दूसरे को आहत करते हैं, कि घाव हमारी जिजीविषा से भरते हैं, दवा-दारू से नहीं, भले उनसे फ़ौरी तौर पर कुछ राहत मिल जाती हो।

साहित्य मूलतः संसार के प्रति अनुराग से उपजता है। उसका मुख्य प्रभाव हममें इस अनुराग को अधिक गहरा और उत्कट, सार्थक और सूक्ष्म करना होता है। साहित्य हमें सिखाता

है कि यह संसार सुंदर है, कि उसे सुंदरतर किया जा सकता है, कि उसकी सुन्दरता में हम सबका बराबरी का हिस्सा है, कि अगर वह हिस्सा हमें नहीं मिल पाया है तो हमें उसकी माँग और कोशिश करनी चाहिए, कि सारे सच कल्पना-प्रसूत होते हैं, कि सच होने के लिए पहले सपना होना चाहिए, कि मनुष्य की नियति मनुष्य के हाथ में है, कि हम सब में हैं और सब हम में हैं और फिर भी हम अकेले हैं, कि हमें एकांत और सामुदायिकता दोनों चाहिए, कि स्वतंत्रता-समता-न्याय के बिना मानवता कभी संपूर्ण नहीं हो सकती, कि हम भले आधे-अधूरे हैं, मनुष्य होने के नाते हम संपूर्णता की आकांक्षा करते हैं, कि अगर हमारी आँखों में आँसू आते हैं तो सहस्रों प्रकाशवर्ष दूर किसी नक्षत्र की आँखें भी पसीज उठती हैं, कि सब कुछ हमारे बस में नहीं है लेकिन बहुत कुछ फिर भी है, कि हमारी प्रश्नवाचकता और उत्सवधर्मिता परस्पर विरोधी नहीं है, कि न सिर्फ़ संसार को समझने-बदलने की एक दृष्टि बल्कि कई दृष्टियाँ हैं, ऐसा ही होना चाहिए। हमें साहित्य चाहिए क्योंकि हमें अपने सांसारिक अनुराग को टिकाऊ, हितकारी और दीर्घकालीन बनाना है। साहित्य के परिसर में हम अधिक देखते, अधिक सुनते, अधिक महसूस करते, अधिक समझते-गुनते हैं। साहित्य में हम, अधिक हम होते हैं।

अज्ञेय की भाषा शिक्षा

शंकर शरण*

संस्कृति की बुनियाद भाषा ही होती है। किंतु आजकल करियर, तकनीकी और अर्थवाद के व्यापक प्रभाव में यह सत्य शिक्षा में उपेक्षित हो रहा है। किसी के शिक्षित होने में उसे भारतीय साहित्य का ज्ञान भी होना आवश्यक नहीं समझा जाता। इस दुःखद स्थिति को समझने में अज्ञेय का भाषा चिंतन अत्यंत उपयोगी है। बच्चों को संस्कारी भाषा की शिक्षा देना अनिवार्य है। इसके लिए भाषा सीखने का संस्कार पैदा करना चाहिए। हममें से 90% लोग मातृभाषा की उतनी शिक्षा नहीं पाते जितनी पानी चाहिए। अंग्रेजी सीखने के लिए तपस्या की जाती है, पर अपनी भाषा के लिए मान लिया जाता है कि वह अपने आप आ जाएगी। अज्ञेय का चिंतन प्रमाणिक रूप से बताता है कि कोई भी भाषा अपने - आप नहीं आती। उसे यत्नपूर्वक सीखना होता है। प्रस्तुत लेख अज्ञेय के तत्संबंधी मूल्यवान विचारों पर ध्यान दिलाता है।

“भाषा कल्पवृक्ष है। श्रद्धापूर्वक जो उस से माँगे, वह देती है। यदि उस से कुछ माँगा ही न जाए क्योंकि उस से कुछ लटका हुआ नहीं दीख रहा है, तब तो कल्पवृक्ष भी कुछ नहीं देता।”

—अज्ञेय

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ‘अज्ञेय’ समृद्ध होते रहेंगे। पर अज्ञेय की ख्याति कवि के (1911-87) एक महान हिंदी कवि थे। उनकी साथ-साथ विचारक और निबंध लेखक के रूप अनेक कविताओं में शास्त्रीय गूँज और सामर्थ्य में भी हुई। बच्चों और युवाओं, विशेषकर उनकी है, जिनसे संवेदनशील पाठक कई पीढ़ियों तक शिक्षा के विषय में भी उन्होंने बड़े सारगर्भित

*असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली।

लेख लिखे हैं। उन लेखों और व्याख्यानों की संख्या अवश्य कम है, किंतु उनमें कुछ अत्यंत मूल्यवान् बातें कहीं गई हैं जिनका अध्ययन, मनन करना शिक्षाविदों और शिक्षार्थियों के लिए लाभदायक होगा। आज तीन-चार दशक बीत जाने के बाद भी अज्ञेय के विचारों की मूल्यवत्ता तनिक भी कम नहीं हुई है। उनकी 'केंद्र और परिधि' नामक पुस्तक में भाषा और शिक्षा संबंधी उनके निबंध और व्याख्यान संकलित हैं। प्रत्येक शिक्षक और शिक्षाविद् को उसका अध्ययन करना चाहिए। यहाँ अज्ञेय के भाषा संबंधी चिंतन को संक्षेप में रखा जा रहा है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द और गाँधी की तरह अज्ञेय ने भी इस बात पर बल दिया था कि बालक-बालिकाओं को अपनी भाषा पहले अच्छी तरह सीखनी चाहिए। अपनी भाषा के श्रेष्ठ साहित्य को भी अवश्य पढ़ते रहना चाहिए। आज प्रायः हमारी शिक्षा में ऐसा नहीं हो रहा है। दो-चार कहानी और कविताएँ भाषा की पाठ्य-पुस्तक में रहती हैं। उसी को पढ़-पढ़ाकर साहित्य अध्ययन की इतिश्री हो जाती है क्योंकि बच्चों का लगभग संपूर्ण समय मुख्यतः विज्ञान तथा अन्य विषय की पढ़ाई में लगाया जाता है। किंतु यह स्थिति बच्चों के संपूर्ण विकास की दृष्टि से अत्यंत हानिकारक है।

सर्वप्रथम, श्रेष्ठ साहित्य का पर्याप्त अध्ययन नहीं करने से बच्चों की अभिव्यक्ति क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि भाषा की समझ और उस पर पकड़ अंततः साहित्य की भाषा से ही प्राप्त होती है। मन में उठने वाले हर मनोभाव

और बात को सटीक शब्दों और अच्छे वाक्यों में बोलने, लिखने की क्षमता एक बहुत बड़ी शक्ति है। किसी व्यक्ति के पास यह न होने से जीवन में काम भले चल जाए, पर इससे उसका व्यक्तित्व दुर्बल होता है। हमारे बड़े-बड़े जाने-माने पब्लिक यानि निजी स्कूलों में भी, जहाँ सारी पढ़ाई अंग्रेजी माध्यम से होती है, स्थिति भिन्न नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः देखी जाने वाली बात है कि जो लोग सदैव अंग्रेजी में ही लिखते, बोलते हैं उन में भी अधिकांश अपनी सभी बातें, भावनाएँ, समस्याएँ अंग्रेजी में नहीं व्यक्त कर पाते। हरेक कार्यालय, संस्थान में इसका प्रमाण पाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपनी भाषा पर समुचित ध्यान नहीं दिया, इसलिए वे अंग्रेजी में भी अधिक सक्षम नहीं बन सके। ऐसे लोग भावनात्मक, मानसिक रूप से अधिक दुर्बल होते हैं। उनके बड़े पद, धनाढ्यता अथवा चमकते परिवेश आदि से भ्रमित न हों। अतः बच्चों की शिक्षा में अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार उसकी सबसे बड़ी भलाई है। इस पर अज्ञेय ने बहुत बल दिया था।

यह सच है कि शिक्षा की भाषा की समस्या हमारे देश में उलझकर रह गई है। इसका कारण है कि हम ठीक-ठीक नहीं समझते कि भाषा के साथ मनुष्य का संबंध क्या है? इसके प्रति भ्रामक समझ पूरी स्थिति को उलझाती है। अज्ञेय ने कहा था कि हम भाषा को नहीं बनाते, पहले भाषा ही हमें बनाती है। यह बहुत बाद में होता है जब भाषा की साधना करने वाले सरस्वती के कुछ वरद-पुत्र भाषा को भी बनाते हैं, पर मूल

बात यह है कि जिस भाषा को हम जन्म से ही सहज रूप में सुनते, जानते, सीखते हैं जिस के परिवेश में रहते हैं, उसी से हमारी पहचान बनती है, उसी में हम गढ़े जाते हैं। यदि उसी भाषा की उपेक्षा करके बचपन से ही किसी अन्य भाषा की आराधना की जाए, तो ज्यादातर यही होता है कि बच्चे किसी भाषा पर अधिकार नहीं कर पाते। उनका व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है।

इस प्रकार भाषा किसी की अस्मिता से जुड़ी होती है। अज्ञेय कहते थे 'हमें सदैव यह प्रश्न पूछना चाहिए—आपकी अस्मिता, आपके होने, आपकी पहचान की भाषा क्या है?' इसके बाद ही दूसरी बातों को अधिक स्पष्टता से समझना संभव होगा। अपने बाल-बच्चों के भविष्य की चिंता भी इस के प्रकाश में करनी चाहिए। उन्हें हम क्या, कैसा बनाना चाहते हैं? मात्र मनीमेकर या मर्सिनरी (mercenary) या फिर आत्मनिर्भर, आत्मवान, गौरवपूर्ण मनुष्य? यदि वह अपने वास्तविक समाज और परिवेश की भाषा को गंभीरतापूर्वक, उच्च महत्त्व देते हुए नहीं सीखता—तो वह और जो कुछ बने, आत्मवान मनुष्य बन सकेगा, इसमें संदेह है।

अज्ञेय ने कहा था, "हमारे हाथ मुक्त हों, हमारा हृदय मुक्त हो, हमारी बुद्धि मुक्त हो, इस से बड़ी सफलता न हमारी शिक्षा हमें दे सकती है, न हम शिक्षा को दे सकते हैं।"¹ इन शब्दों का मर्म प्रत्येक शिक्षाविद् और नीति-निर्माता को सदैव स्मरण रखना चाहिए। शिक्षकों और

माता-पिताओं को भी यह बड़ी गंभीरता से समझने की आवश्यकता है कि मनुष्य की आत्मनिर्भरता केवल आर्थिक ही नहीं, भावनात्मक और मानसिक भी होती है। यह केवल धनी बन जाने, किसी बड़े कारोबार का उत्तराधिकारी होने या जीवन-यापन के लिए कोई लाभकारी पद प्राप्त कर लेने मात्र से नहीं होती। यदि इस तत्त्व-पूर्ण बात को हम समझ सकें तो बच्चों की शिक्षा में उसकी अपनी भाषा के अच्छे ज्ञान के प्रति उतने ही चिंतित रहेंगे जितने गणित और विज्ञान के लिए।

अभी ऐसा नहीं हो रहा है तो कारण यही है कि मनुष्य की अस्मिता के महत्त्व को हम नहीं समझते। यह वही चीज है जिससे हम पशु-जगत से अलग होते हैं। आहार-निद्रा-मैथुन और जीवन-यापन तो पशु भी करते हैं। मनुष्य इससे बढ़कर मूल्यों की सृष्टि करते हैं। ऐसे मूल्यों की जिनके लिए त्याग और प्राणों तक के बलिदान को भी उचित समझते हैं। यही मनुष्यत्व है। इसी अर्थ में भाषा और संस्कृति हमारे बच्चों की शिक्षा का आनुषांगिक नहीं, बल्कि केंद्रीय अंग होने चाहिए। मात्र मनीमेकर बनाने वाली दृष्टि, जो आज संपूर्ण शिक्षा-जगत को ग्रस चुकी है, बच्चों और युवाओं की दूरगामी हानि करना है। इस बात से कम ही शिक्षा नीति के निर्माता या बच्चों के माता-पिता अवगत हैं।

जहाँ तक हिंदी भाषा की स्थिति है, इस बारे में प्रायः हिंदी की गलत परिभाषा से आरंभ होता है। भारत के अंदर कथित हिंदी प्रदेश की संज्ञा

1. अज्ञेय, 2005(1984), 'शिक्षा-जोड़ने वाली तोड़ने वाली', केंद्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ-68

एक नितांत दोषपूर्ण धारणा है। हिंदी यहाँ किसी प्रदेश के जीवन के साथ एकात्म बोली नहीं है। यह किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है, जैसे—तमिल, बांग्ला, मैथिली, भोजपुरी आदि हैं। जिसे विचार-विमर्श में गलती से हिंदी प्रदेश कह दिया जाता है, वह वस्तुतः कई विशिष्ट भाषाओं का अपना-अपना सहज क्षेत्र है। जैसे, मगधी, मैथिली, अवधी, ब्रज, कुमाऊँनी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, आदि। इन सबको हिंदी क्षेत्र कहने का भ्रम इसलिए चलता है क्योंकि यह भाषाएँ देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं। इस कारण इन सभी भाषाओं को हिंदी या हिंदी की विविध बोलियाँ समझ लिया जाता है। पर ध्यान दें कि यदि बांग्ला या गुजराती को देवनागरी में लिखें तो वह मैथिली या मगधी जैसी ही हिंदी के निकट या दूर लगेगी। कितने लोगों ने ध्यान दिया है कि हमारा राष्ट्र-गीत और राष्ट्र-गान दोनों ही बांग्ला गीत और गान हैं? परंतु देवनागरी में लिखे जाने पर किसी हिंदी भाषी को वह बांग्ला नहीं लगता। वही स्थिति तेलुगु या पंजाबी के साथ भी है। अतः हिंदी किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है। वह भारत के सभी भाषा-भाषियों के सम्मिलित योगदान से बनी है। उसकी कोई विशिष्ट या अलग शब्दावली नहीं है इसलिए वह पूरे भारत में बोली, समझी जाती है। वह या तो पूरे भारत देश की भाषा है, या कहीं की नहीं। यही हिंदी की पहचान और भूमिका है। पूरे देश की जनता की चाह और योगदान से ही वह बनी है।

यही कारण है कि हाल के युग में हिंदी का विकास राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ हुआ। अज्ञेय ध्यान दिलाते हैं कि हिंदी को अपनाने, बढ़ाने की माँग ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघर्ष के दौर में कलकत्ते, बंबई, अहमदाबाद आदि स्थानों से आरंभ हुई थी—पटना, लखनऊ या भोपाल से नहीं। इसे समझने की आवश्यकता है कि हिंदी भारत की सभी भाषाओं के संगम से बनी। पूरे देश में विभिन्न क्षेत्रों के लोगों द्वारा विविध कार्यों के लिए प्रयोग किए जाते रहने के कारण ही यह स्वभावतः आधुनिक भी है। क्योंकि यह भारतवर्ष की समग्र संस्कृति की संवाहिका है। यही हिंदी फिल्मों की सर्वप्रियता का रहस्य भी है। इसीलिए देश की किसी भी भाषा में कुछ नया, मूल्यवान आता है तो यही उसे लेकर पूरे देश में प्रसारित करती है। इस प्रकार, 'क्लियरिंग हाउस'² का भी काम करती है। यह काम हिंदी फिल्मों से पहले के जमाने में भी होता रहा था।

अज्ञेय के अनुसार, देश में हिंदी का विरोध बढ़ा या गहरा नहीं है। जहाँ है वहाँ भी वहीं तक जहाँ भारतीय अस्मिता का भी विरोध या उपेक्षा है। उनके कहने का अर्थ यह नहीं था कि हिंदी का विरोध करने वाले भारतीय नेता या बुद्धिजीवी आवश्यक रूप से देश विरोधी ही हैं बल्कि मात्र यह कि हिंदी का विरोध करने वाले कहीं न कहीं देश या राष्ट्र की चिंता का बहुत ध्यान नहीं रखते। नहीं तो वे देश के विराट साधारण जनसमुदाय के काम आने वाली इस सार्वक्षेत्रीय

2. अज्ञेय, 2005(1984), 'हिंदी: भारत के हृदय की कुंजी', केंद्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.-88

भाषा का यूँ विरोध नहीं करते। दूसरी ओर, यह तो स्वयं परखने की बात है कि राष्ट्रीय भाव से किनाराकशी या विदेशी स्रोतों, संभावनाओं से क्षुद्र स्वार्थपूर्ति और उस की आशा—हिंदी विरोध मुख्यतः इन्हीं भावनाओं से जुड़ा है।

हिंदी की उपेक्षा और अंग्रेज़ी आराधना मात्र आर्थिक, विशेषाधिकारी, संकीर्ण स्वार्थ प्रवृत्ति के कारण है। अन्य कोई कारण नहीं जिस पर औपनिवेशिक, दोषपूर्ण शिक्षा तथा कुशिक्षा के कारण केवल भौतिक समृद्धि को ही प्रगति का आधार मान लिया गया है। फिर, भौतिक समृद्धि का मापदंड भी पश्चिम का अपना लिया गया। यदि यही रहा तो हम प्रगति करने के बदले पश्चिम के पिछलग्गू ही नहीं रहेंगे, वरन् पिछड़ते भी जाएंगे। अज्ञेय की यह बात आज किसी को अनुपयुक्त लग सकती है। किंतु तभी तक जब तक हम दुनिया में भारत की आर्थिक उन्नति के ऊपरी प्रचार से स्वयं को गफलत में रखें। जब हम दुनिया के रंगमंच पर राजनीतिक, कूटनीतिक, सांस्कृतिक मानदंडों पर अपनी वास्तविक हैसियत का आकलन करेंगे तो हमारी पर-निर्भरता, पर-मुखापेक्षता और सांस्कृतिक भीरुता स्वतः दिखेगी। केवल विदेशी-मुद्रा भंडार के आंकड़े पिछलग्गूपन का विपर्याय नहीं साबित हो सकते।

भारत के कर्णधारों द्वारा आधुनिक राष्ट्र बनने की चाह में अंग्रेज़ी का वर्चस्व, एकाधिकार बढ़ाना अपनी सांस्कृतिक अस्मिता, अपनी दृष्टि को खो देना ही रहा है। आत्महीन, दृष्टिहीन होकर कोई

कितना बढ़ सकता है यह विचारने की बात है। अज्ञेय के शब्दों में, हमारे जीवन में अंग्रेज़ी का बढ़ता प्रभाव हमारे लिए “किस्तों में आत्मघात”³ है। उन्होंने बल देकर कहा था कि अगर देश एक सांस्कृतिक इकाई नहीं है, यदि उसमें अस्मिता का बोध नहीं है तो आर्थिक प्रगति के बावजूद वह वेध्य बना रहेगा। क्या यह सत्य नहीं है?

हाल के वर्षों की अनेकानेक घटना, राजनीतिक बौद्धिक घटनाक्रम और जिहादी उग्रता, आतंकवाद का बढ़ता दबदबा इस का प्रमाण है कि हमारे कर्णधार, मीडिया समेत हमारे बौद्धिक, नीति-निर्मात्री संस्थान कितने भीरू, लज्जित, निरुपाय दिखते हैं। उनके पास कश्मीरी पंडितों की दुर्दशा, तरह-तरह के अलगाववाद अथवा सीमावर्ती प्रदेशों पर बाह्य जनसांख्यिकी आक्रमण का कोई उत्तर नहीं। क्योंकि देश का और हमारा अपना भी अस्मिता-बोध दुर्बल हुआ है। अंग्रेज़ी की बढ़त ने हमें अपनी परंपराओं, संस्कृति, शास्त्र, भाषा ही नहीं अपने लोगों और प्रदेशों से भी भावनात्मक रूप से दूर किया है। हमारे असंख्य युवाओं की भावनाएं यूरोप और अमेरिकी संवेदनाओं से अधिक जुड़ती या जुड़ना चाहती प्रतीत होती हैं। इस प्रकार, कई पहलुओं से हमारी सांस्कृतिक एकता कमजोर हुई है। भाषा का प्रश्न इन सभी बातों से गहरे जुड़ा है। राष्ट्रीय चेतना का भावनात्मक रूप से छीजना हिंदी की उपेक्षा का मूल कारण है।

अज्ञेय ने इस पर भी ध्यान दिलाया था कि देश में मौलिक चिंतन की संभावना कम से

3. अज्ञेय, 2005(1984), 'हिन्दी का वर्तमान और भविष्य', केंद्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.-10

कमतर क्यों होती जा रही है। सभी विषयों में अभी स्थिति क्या है? विदेशी भाषाओं के पुराने, नए चिंतन का पहले अंग्रेजी में अनुचिंतन होता है; फिर उस का घटिया अंग्रेजी में अनुलेखन होता है। तब उस का जैसा-तैसा अनुवाद भारतीय भाषाओं में आता है। इसी तीसरे दर्जे की बौद्धिक सामग्री पर हमारी संपूर्ण बौद्धिक व्यवस्था पल रही है। इसी से हमारी नई पीढ़ी के कर्णधार, शिक्षाविद्, पत्रकार, प्रशासक आदि बन रहे हैं। उनमें सामाजिक, राष्ट्रीय समस्याओं से लेकर दर्शन, साहित्य आदि किसी विषय में मौलिक चिंतन की क्षमता कहाँ से पैदा होगी?

इसी से जुड़ी स्थिति साहित्य की भी है। विश्व में उस साहित्य की कहीं कोई विशेष प्रतिष्ठा नहीं जिस में कोई सांस्कृतिक अस्मिता नहीं बोलती। यहाँ प्रश्न भौगोलिक क्षेत्र का नहीं, बल्कि दृष्टि का है। हमारे लेखकों, कवियों, प्रोफेसरों के कथित 'आधुनिक', 'प्रगतिशील', 'जनवादी', 'सेक्यूलर' या 'पोस्ट-मॉडर्न' लेखन का अधिकांश किसी भूमि पर नहीं खड़ा है। जहाँ-तहाँ से बहकर आई खपच्चियाँ जोड़ कर बनाई गई बिन पतवार की नौका पर वह अनिश्चित तैर रहा है। उसमें अपनी अनुभूत, विचारित, सत्यनिष्ठ बातें नगण्य हैं। ऐसा साहित्य मिथ्या आत्मतोष भले दे, किसी लेखक की उपलब्धियों का कागजी बायो-डाटा दिखने में तनिक भारी बना दे, पर वह न टिक सकता है, न सम्मान पा सकता है।

अज्ञेय ने कहा था, "भाषा कल्पवृक्ष है। श्रद्धापूर्वक जो उस से माँगो, वह देती है। यदि

उस से कुछ माँगा ही न जाए क्योंकि उस से कुछ लटका हुआ नहीं दीख रहा है, तब तो कल्पवृक्ष भी कुछ नहीं देता।"⁴ यह बड़ी गहरी बात है। जिन लोगों को लगता है कि हिंदी के माध्यम से 'ऊँचे' नहीं जाया जा सकता—उनके लिए यह बात ध्यातव्य है। जिन्हें अपनी भाषा पर श्रद्धा है, वे उसी के माध्यम से सुख, समृद्धि और उल्लास पा सकते हैं, पाते हैं। इसे उलटकर भी देख सकते हैं। जिन लोगों ने अपनी भाषा को त्यागकर आरंभ से ही अंग्रेजी की मतिहीन अभ्यर्थना की है, क्या उन्हें वह सब उपलब्ध हो सका है जिससे वे वास्तविक समृद्धि, संतोष पा सकें? यदि नहीं, तो समस्या कहाँ पर है? यह ठीक से विचारने का प्रश्न है।

अज्ञेय ने हिंदी लेखकों को जो सीख दी थी, वह वास्तव में हिंदी में पढ़े-लिखे प्रत्येक शिक्षक, पत्रकार और बुद्धिजीवी के लिए भी सत्य है। उन्हें हिंदी में लिखना चाहिए और भरसक ऐसा लिखना चाहिए कि वह सम्मान के योग्य हो। हिंदी में जो साहित्य लिखा जाता है, चाहे वह किसी भी विषय में हो, उस लिखे के प्रति विद्वानों में सम्मान का भाव बढ़े। अज्ञेय ने चेतावनी दी थी कि अब हिंदी को हमें माँजना है, क्योंकि वह मैली हो रही है। लेखकों, विद्वानों को इसका महत्त्व समझना चाहिए कि भारत में हिंदी या मलयालम, कन्नड़ आदि अपनी भाषाओं में लिख कर जो तृप्ति मिलती है वह अंग्रेजी में लिख कर नहीं मिल सकती। क्योंकि कोई कृतिकार अपने माध्यम का उपयोग ही नहीं करता, उसकी सृष्टि भी करता है। और

4. अज्ञेय, 2005(1984), 'हिन्दी का वर्तमान और भविष्य', केंद्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.-11

हम जो हैं, उसी की सृष्टि कर सकते हैं। जिस से हम बने हैं उसे पहचानते हुए उसे सच्ची अभिव्यक्ति दें तो वर्तमान और भविष्य हमारे हैं। नहीं तो हम कहीं के नहीं हैं। हम वही बन सकते हैं जो हम हैं। अपनी पहचान की भाषा पहचानें, स्वयं समृद्ध बनें। यह सीख अज्ञेय ने कई बार दुहराई है। उन्होंने यह भी कहा था कि हमारे लेखकों को जो सत्य दीखता है उस पर आचरण करना और उस के लिए जो दण्ड मिले उसे भोगने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यदि हिंदी या तेलुगू आदि में लिखने, पढ़ने से कोई सुख-सुविधाओं से वंचित किया जाता है तो उन के बिना ही जीने के लिए प्रस्तुत हों और इसी में गौरव अनुभव करें। इसका कोई विकल्प नहीं। इसी में हमारी और देश की भी गरिमा है यह बात भी गहराई से समझने की है।

भारत में विभिन्न भाषाओं की सशक्त उपस्थिति प्रायः एक समस्या के रूप में देखी जाती है। अज्ञेय ने इसे भिन्न रूप में देखा था। उनका कहना था कि भारत में एक अपनी राष्ट्रभाषा पर जोर देने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी एक लिपि—देवनागरी—पर।⁵ देवनागरी में लिखी कन्नड़, गुजराती आदि कोई भी भारतीय भाषा दूसरे भाषा-भाषी भारतीय को वैसे ही काफ़ी समझ में आ जाएगी। तब दिखेगा कि भारतीय भाषाएं उतनी भिन्न नहीं हैं, न हिंदी किसी एक प्रदेश की है। किंतु उन्होंने सावधान किया था कि एक लिपि के रूप में किसी भी हाल में रोमन लिपि अपनाने की अनुशंसा

नहीं करनी चाहिए। वह भारतीय भाषाओं की निश्चित मृत्यु का पहला कदम होगा।

किसी लेखक के लिए सर्वोपरि महत्त्व है कि वह अपने माध्यम की शक्ति और मर्यादा को पहचाने। शब्दों के दुरुपयोग को रोके जो हमारी संवेदनाओं को कुंद बनाती है। शिक्षा पद्धति में भाषा के इस पहलू की उपेक्षा हो रही है। इसलिए आज हमारे लिए इसका अतिरिक्त महत्त्व हो गया है। 'समझ में आने लायक' के नाम पर हिंदी को दुर्बल बनाने या नीचे गिराने का काम नहीं होना चाहिए। भाषा शक्ति है। जिसे कोई शब्द, अभिव्यक्ति नहीं समझ में आई वह उसे सीखे, यही उस के हित में है, न कि भाषा को नीचे लाना। यहाँ हम इस बात पर भी ध्यान दे सकते हैं कि समझ में आने लायक बनाने के नाम पर हिंदी को ही गिराने का आग्रह होता है, अंग्रेज़ी के मामले में सदैव विद्यार्थी को ही ऊपर उठने का निर्देश दिया जाता है। कि वह नई अभिव्यक्तियाँ सीखे, नए मुहावरे जाने, नए प्रयोग समझे। जबकि हिंदी को 'आम-फ़हम' बनाने के नाम पर क्षुद्रता, संकरता के स्तर पर लाने में भी कोई संकोच नहीं किया जाता। इस दोहरेपन को समझना आवश्यक है।

अज्ञेय मूलतः किसी कथित हिंदी क्षेत्र के न थे। उनका परिवार पंजाबी ब्राह्मणों से आया था। उनकी शिक्षा-दीक्षा अंग्रेज़ी और संस्कृत से आरंभ हुई थी। देश के विभिन्न कोनों में रहकर अज्ञेय पले, पढ़े, बढ़े। बाद में, एक बड़े कवि और चिंतक के रूप में उन्होंने विदेशों में भी पर्याप्त ज्ञान और अनुभव

5. अज्ञेय, 2004(1983), 'परम्परा, प्रभाव, प्रक्रिया', *आत्मपरक*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.-70

प्राप्त किया था। उनकी रचनाएँ अंग्रेज़ी, जर्मन और कुछ पूर्व यूरोपीय भाषाओं में भी अनूदित की गई थीं। इसलिए, अज्ञेय के विचारों पर हमें एक गुरु-गंभीर चिंतक और महान अवलोकनकर्ता की मूल्यवान सीख के रूप में मनन करना चाहिए। विशेषकर, भाषा, संस्कृति और शिक्षा संबंधी विचारों को।

आज के संदर्भ में हमें अज्ञेय के इस विचार को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यह नारा गलत है कि 'हिंदी को खतरा है, हम उसे

बचाएं।'⁶ सच तो यह है कि आज हमारी अस्मिता आक्रांत है, राष्ट्रीय बोध आक्रांत है, इसलिए हमारी भाषा भी आक्रांत है। सही नारा यह होगा कि "हम खतरे में हैं, जिस से हिंदी हमें बचा सकती है"। इसलिए हिंदी अपनाएं, उससे लगाव बढ़ाएँ, उससे स्वयं समृद्ध, शक्तिमान बनें। भाषा से यही हमारा सही संबंध होगा। अंततः इसी से हम स्वयं बलवान बनेंगे और देश भी सबल होगा।

6. अज्ञेय, 2004 (1983), 'आँखों देखी और कागद लेखी', *आत्मपरक*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ.-270

गोपाल कृष्ण गोखले का शिक्षा चिंतन

रश्मि श्रीवास्तव*

गोपाल कृष्ण गोखले ने भारत के सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक विकास का मूलाधार शिक्षा को माना और शिक्षा के क्षेत्र में न्यायसंगत उपलब्धता पर ध्यान केंद्रित कर अनिवार्य तथा निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की अवधारणा हमारे सामने रखी। वह एक राजनेता होने के साथ-साथ अर्थशास्त्र के विद्वान भी थे। शिक्षा के क्षेत्र में माँग और पूर्ति के संतुलन हेतु आने वाली वित्तीय जटिलता के लिए उन्होंने राज्य व स्वैच्छिक संस्थाओं के सम्मिलित प्रयास को स्वीकृति दी। उन्होंने शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर शिक्षा की उपलब्धता, उसकी उपादेयता को देश के आर्थिक विकास के साथ समायोजित करने के उपाय भी बताए। शैक्षिक प्रशासन संबंधी उनके विचारों में हमें उनकी प्रशासनिक दक्षता देखने को मिलती है। प्रस्तुत लेख में उनके शिक्षा-संबंधी विचारों की विस्तृत विवेचना की गई है।

गोपाल कृष्ण गोखले को एक ऐसे व्यक्तित्व के रूप में जाना जाता है जिसने राजनीति में नैतिक मूल्यों को बड़ा ऊँचा स्थान दिया था। वह एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक तथा शिक्षाविद् थे। वे स्वयं एक शिक्षक भी थे अतः, जन साधारण के लिए शिक्षा के महत्त्व को भली-भाँति जानते थे। ब्रिटिश शासनकाल में ही उन्होंने प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बनाए जाने पर बड़ा जोर दिया। इसके लिए उन्होंने राजनीतिक स्तर पर भी बड़े प्रयास किये। यद्यपि शासन के विरोध के कारण उन्हें वांछित सफलता नहीं मिल सकी थी। गोखले के शिक्षा-दर्शन की विवेचना के क्रम में आवश्यक है कि उनके जीवन परिचय, उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर भी दृष्टि डाली जाये।

* विभागाध्यक्ष (बी.एड.) हीरा लाल यादव बालिका डिग्री कॉलेज, सरोजिनी नगर, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

जीवन परिचय

गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म, 9 मई 1866 को कोल्हापुर में हुआ था। उनका पालन-पोषण धार्मिक वातावरण में हुआ। दस वर्ष की अवस्था तक वे गाँव में रहे और वहीं उनकी शिक्षा हुई। वे दो भाई और चार बहनें थे। वह मात्र 13 वर्ष के थे जब उनके पिता का देहांत हो गया। अतः उनका लालन-पालन कठिन परिस्थितियों में हुआ। 1884 में एल्फिंसटन कॉलेज में स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात पूना के एक स्कूल में वह अँग्रेजी के अध्यापक नियुक्त हुए। यह स्कूल आगे चलकर फर्ग्युसन कॉलेज के रूप में प्रसिद्ध हुआ। वह इस कॉलेज से 1902 में प्रिंसिपल के पद से सेवानिवृत्त हुए।

उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन जस्टिस राना डे के शिष्य के रूप में प्रारंभ किया था। उन्होंने एजुकेशन सोसाइटी की मात्र 75 रुपये प्रतिमाह पर 20 वर्ष तक सेवा की। यहीं उनका बाल गंगाधर तिलक, आगरकर आदि से निकट संपर्क हुआ। उन्होंने अनेक वर्षों तक 'सार्वजनिक सभा' पत्रिका का संपादन किया। वे 'सुधारक' के सम्पादक भी रहे। वे इतिहास तथा अर्थशास्त्र के पंडित थे। उन्होंने 1897, 1905, 1906, 1908, 1912, 1913 तथा 1914 में इंग्लैंड की यात्रा की। वहाँ रहकर उन्होंने देशहित में अनेक कार्य किये। इंग्लैंड में ही उन्होंने भारतीय कांग्रेस की 'ब्रिटिश समिति' तथा उसके पत्र 'इण्डिया' को गतिशील बनाया और इस संदर्भ में सर विलियम बैडनबर्न का सहयोग प्राप्त किया।

गोखले ने 1889 में ही कांग्रेस में प्रवेश कर

लिया था। 1895 में ही वह कांग्रेस के मंत्री बन गए थे और वर्षों तक वह कांग्रेस की बम्बई शाखा के मंत्री रहे। 1902 में गोखले केंद्रीय विधान परिषद् के सदस्य निर्वाचित हुए। उन्होंने इस सदस्यता का लाभ भारतीय जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया। परिषद् में उनके द्वारा प्रस्तुत बजट भाषण बड़े ही व्यवहारिक तथा तर्कपूर्ण होते थे। उनके विचारों व सुझावों पर शासन की प्रतिक्रिया भी हुआ करती थी। उन्होंने परिषद् के सदस्य के रूप में भारतीय जनता की आवाज़ उठाते हुए जिन मुद्दों को आगे रखा उनमें प्रमुख मुद्दे थे, नमक कर को हटाना, अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा की शुरुआत, सरकारी नौकरियों में भारतीयों के साथ भेदभाव न बरतना, सरकारी व्यय कम करना आदि। गोखले ने लॉर्ड कर्जन के प्रतिक्रियावादी सुधारों का विरोध किया किंतु उनके विरोध के बावजूद भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, प्रेस अधिनियम व शासकीय गोपनीयता अधिनियम बनाए गए। लॉर्ड कर्जन गोखले की विधायी प्रतिभा के प्रशंसक थे।

1905 में बनारस कांग्रेस के सभापति निर्वाचित होने के पश्चात उन्होंने बहिष्कार का समर्थन किया, यद्यपि उनका मानना था कि इसका प्रयोग तभी किया जाये जब कोई दूसरा विकल्प ना हो। 1907 के सूरत विच्छेद के बाद वह कांग्रेस के क्रिया-कलापों की महत्वपूर्ण धुरी बने और नरम दल के नेता के रूप में अनेक वर्षों तक कांग्रेस का दिशा-निर्देश करते रहे। सन् 1912 में भारतीयों की समस्या का अध्ययन करने वह स्वयं दक्षिण अफ्रीका गए जहाँ

गांधी जी से उनका संपर्क हुआ। आगे चलकर गाँधी जी ने उन्हें अपना राजनीतिक गुरु स्वीकार किया। उन्होंने एक दैनिक पत्रिका 'ज्ञान प्रकाश' का प्रकाशन पूना से किया था। इस पत्रिका के माध्यम से वह अपनी राजनैतिक एवं सामाजिक विचारधारा को जनता के समक्ष रखा करते थे। उनका सार्वजनिक जीवन निष्ठाभर व त्यागपूर्ण था और वह सही अर्थों में 'सादा जीवन उच्च विचार के पोषक' थे। आजीवन जनता के हित में अंग्रेजी सरकार की नीति का विरोध करने के बावजूद वे सरकार के लिए श्रद्धा व सम्मान का पात्र बने रहे जो कि उनकी विनम्रता का प्रतीक था। उनके निःस्वार्थ सेवाभाव के लिए देश आज भी उनका कृतज्ञ है। 19 फरवरी 1915 को 49 वर्ष की आयु में इस महान देशभक्त ने महाप्रयाण किया। गोखले एक व्यवहारिक आदर्शवादी थे। लार्ड मैकाले ने गोखले का मूल्यांकन करते हुए कहा था—'उनका मस्तिष्क एक राजनीतिज्ञ का मस्तिष्क था और उनमें शासन के उत्तरदायित्व की भावना व्यक्त थी।' प्रसिद्ध लेखक रामधारी सिंह दिनकर स्वीकार करते हैं कि तिलक एक ऐसे राजनेता थे जो विदेशियों पर ज्ञान, तर्क और प्रेम से विजय पाना चाहते थे।¹

गोपाल कृष्ण गोखले के शैक्षिक विचार

गोखले के जीवन परिचय पर दृष्टि डालने पर हम देखते हैं कि विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों में संलिप्त गोखले के व्यक्तित्व में एक आदर्श शिक्षक के गुण विद्यमान थे। लगभग

20 वर्षों तक बहुत कम वेतन पर शिक्षक के रूप में कार्य करते हुए उन्होंने शिक्षण के प्रति, अपने समर्पण एवं निष्ठा का परिचय दिया था। शिक्षा के संबंध में उनकी धारणा व्यापक थी और उसमें विषय ज्ञान के अतिरिक्त प्रशासन की जानकारी, तकनीकी, कौशल, स्वास्थ्य, सांप्रदायिक एकता, बंधुत्व एवं समानता, लोकतांत्रिक आंदोलनों का ज्ञान, अध्ययन व लेखन शामिल था।

12 जून, 1905 को गोखले द्वारा 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया' सोसाइटी की स्थापना में हमें भारत में शिक्षा संबंधी सुधार की उनकी इच्छा व कल्पना देखने को मिलती है इस संस्था के अन्य उद्देश्यों के साथ शैक्षणिक कार्यक्रमों में विशेषकर स्त्री शिक्षा, पिछड़ी जातियों की शिक्षा, औद्योगीकरण तथा शास्त्रीय शिक्षा में सहायता देना भी था। वह जन सामान्य की शिक्षा के महत्त्व से भली-भाँति परिचित थे और भारत की विभिन्न समस्याओं की जड़ अशिक्षा को मानते थे। वह अंग्रेजी शासन द्वारा भारत में किये जा रहे शिक्षा व्यवस्थापन से संतुष्ट न थे। उन्होंने कहा भी था कि हमारे लिए विदेशी शासन का अभिशाप इससे अधिक और क्या हो सकता है कि भारतवर्ष के पाँच गाँवों में से चार में पाठशाला नहीं है और आठ बालकों में से सात बालक अज्ञान में डूबे पड़े हैं। गोखले के बजट संबंधी भाषणों में तथ्यों की अधिकारपूर्ण व्याख्या तथा आधारभूत निर्देशक सिद्धांतों की पकड़ देखने को मिला करती थी। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने यह पकड़ बनाए

1. दिनकर, रामधारी सिंह, 2005, *संस्कृति के चार अध्याय*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.-470

रखी और प्रशासनिक स्तर पर शिक्षा संबंधी सुधार की अनेक योजनाएँ प्रस्तुत कीं, इनमें से प्रमुख निम्नवत हैं:

1. शैक्षिक व्यवस्थापन तथा प्रबंधन

किसी भी देश की शिक्षा व्यवस्था का एक प्रधान पहलू उसके व्यवस्थापन व प्रबंधन के स्वरूप का होता है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार की नीति ही यदि दोषपूर्ण हो, उसके प्रावधान का स्वरूप यदि उचित ना हो तो आगे का कार्य जटिल होगा। गोखले ने अंग्रेजी शासन की अवधि में एक शिक्षक के रूप में जीवन-यापन किया था। वह शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त तत्कालीन प्रशासकीय समस्याओं से भली-भाँति परिचित थे। यही कारण है कि उनके भाषणों में हमें भारत में फैली अशिक्षा, व्यवस्थित शिक्षा-प्रबंध का अभाव, सरकार द्वारा शिक्षा की अवहेलना आदि की चर्चा देखने को मिलती है। वे शिक्षा को केंद्रीय विषय बना कर राज्य का दायित्व बना देना चाहते थे किंतु यहाँ सरकार पर ही निर्भर रहने को उचित ना मानकर स्वैच्छिक प्रयासों को भी आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि इस कार्य हेतु देश का धनी वर्ग आगे आये।

उन्होंने अंग्रेज सरकार द्वारा घोषित महंगी शिक्षा का विरोध किया था। वह शिक्षा को राष्ट्र निर्माण की आधारशिला मानते थे। वह देश की शिक्षा-व्यवस्था के प्रति सरकार की संवेदनशीलता से कोई समझौता करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने कहा भी था—‘जनता की नैतिक तथा भौतिक उन्नति के साधनों से मेरा अभिप्राय यह

है कि सरकार ने शिक्षा के लिए क्या किया है और सफाई, कृषि की उन्नति आदि के लिए क्या किया है।’

वे चाहते थे कि गृह विभाग में एक स्वतंत्र शिक्षा सचिव हो तथा बाद में वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् में एक शिक्षा सदस्य अलग से शामिल किया जाये। शिक्षा के प्रति सरकार के उत्तरदायित्व तथा स्वैच्छिक प्रयासों के सम्मिलित तालमेल का सिद्धान्त स्वतंत्र भारत में बड़ा ही लाभकारी सिद्ध हुआ है। आज भारत में प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक हम इस समायोजन के लाभकारी परिणाम देख पा रहे हैं। गोखले ने इसकी कल्पना वर्षों पूर्व पराधीन भारत के सामाजिक वातावरण में ही कर ली थी।

गोखले ने विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण करने वाले वायसराय कर्जन के इण्डियन यूनिवर्सिटी एक्ट (1904) का विरोध किया था। वह उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी राज्य एवं निजी स्रोतों के धन का भारी नियोजन चाहते थे।

2. निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा

गोखले उच्च कोटि के विद्वान, अच्छे अध्यापक तथा एक कुशल वक्ता थे। देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक उन्नति को शिक्षा के साथ जोड़ते हुए वह देश के जन-जन तक शिक्षा का प्रसार किये जाने के इच्छुक थे। यही कारण है कि उन्होंने देश में अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की माँग अंग्रेजी सरकार के समक्ष रखी। वह इंपीरियल लेजिसलेटिव काउंसिल के सदस्य के रूप में भारतीय जनता के हित में

अपनी आवाज़ अंग्रेज़ सरकार के समक्ष उठाने में कभी पीछे न रहे। अपनी इस विचारधारा को सरकार तक पहुँचाने के लिए उन्होंने इस सदस्यता का आश्रय लिया और 19 मार्च 1910 को उन्होंने इस सभा में प्राथमिक शिक्षा संबंधी अपना प्रस्ताव प्रस्तुत किया। प्रस्ताव में कहा गया था कि यह सभा सिफ़ारिश करती है कि संपूर्ण देश में प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बनाने का कार्य प्रारंभ किया जाये और इस संबंध में निश्चित प्रस्तावों को उपस्थित करने के लिए सरकारी और गैर-सरकारी अधिकारियों का एक संयुक्त आयोग शीघ्र ही नियुक्त किया जाये।

अनिवार्य तथा निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा का यह प्रस्ताव छोटे बच्चों की शिक्षा के प्रति उनकी संवेदना को प्रकट करता है। अपने इस प्रस्ताव में उन्होंने सरकार को अनेक सुझाव दिये जो कि इस प्रकार थे—

1. जिन क्षेत्रों में 33 प्रतिशत बालक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, इनमें 6 से 10 वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य कर दी जाये।
2. इस शिक्षा का व्यय स्थानीय संस्थाएँ और सरकार 1:2 के अनुपात में वहन करे।
3. प्राथमिक शिक्षा की देखभाल के लिए एक मंत्री की नियुक्ति की जाये।
4. बजट में प्रतिवर्ष शिक्षा की प्रगति का स्पष्ट वर्णन किया जाये।
5. केंद्र के प्राथमिक शिक्षा के लिए एक पृथक विभाग स्थापित किया जाये, जो

प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए एक योजना बनाए।

गोखले ने बड़े उत्साह के साथ अपनी अोजपूर्ण भाषा में यह प्रस्ताव सभा के समक्ष रखा था। अंग्रेज़ सरकार को अनुमान था कि गोखले का यह प्रस्ताव जनता के लिए तो बड़ा लाभकारी होगा किंतु सरकारी लाभ-हानि की दृष्टि से यह प्रस्ताव पूरी तरह से भारतवासियों के पक्ष में था। अंग्रेजों के लिए इसमें लाभ के अंश न्यून थे अतः अँग्रेजी सरकार ने फ़िलहाल इस संकट को ज्यादा हवा देना उचित ना समझा। उन्होंने गोखले को आश्वासन दिया कि सरकार इस प्रस्ताव पर अवश्य विचार करेगी। गोखले कुछ संतुष्ट हुए किंतु 1 वर्ष बीत जाने के पश्चात इस संदर्भ में कुछ सकारात्मक पहल होते ना देख वे पुनः सक्रिय हुए और 16 मार्च 1911 को उन्होंने केंद्रीय धारा सभा के समक्ष प्राथमिक शिक्षा संबंधी अपना विधेयक प्रस्तुत किया।

1911 के प्राथमिक शिक्षा विधेयक में हमें शिक्षा व्यवस्थापन के क्षेत्र में गोखले की प्रशासकीय दक्षता देखने को मिलती है। उन्होंने देश की मांग, उसकी जरूरत का सामंजस्य प्रशासकीय मांग एवं पूर्ति के साथ बड़ी सहजता से स्थापित किया। शिक्षा के किसी भी स्तर की व्यवस्था में वित्त व उत्तरदायित्व का संयोजन बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। गोखले ने यह तालमेल प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्थापित करने का मार्ग सुझाया। उन्होंने विधेयक द्वारा सरकार को सुझाव दिये—

1. अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के अधिनियम को उन स्थानीय बोर्डों के क्षेत्रों में लागू किया जाये जहाँ के बच्चों का एक निश्चित प्रतिशत प्रारंभिक विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहा है। इस प्रतिशत को निश्चित करने का अधिकार गवर्नर जनरल की परिषद् को हो।
2. स्थानीय बोर्ड सरकार की पूर्ण स्वीकृति प्राप्त करके इस अधिनियम को लागू कर सकते हैं।
3. प्राथमिक शिक्षा के व्यय के लिए स्थानीय बोर्ड शिक्षा कर लगा सकते हैं।
4. अभिभावकों के लिए 6 से 10 वर्ष तक की उम्र के बालकों को प्राथमिक विद्यालयों में भेजना अनिवार्य हो। यदि वे इस नियम का उल्लंघन करें तो उन्हें दंडित किया जाये।
5. पहले यह अधिनियम बालकों की शिक्षा के लिए लागू किया जाये उसके बाद बालिकाओं की शिक्षा के लिए लागू हो।
6. जिस अभिभावक की आय ₹ 10 मासिक से कम हो, उससे शिक्षा शुल्क न लिया जाये।
7. अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का व्यय भार स्थानीय बोर्डों और सरकार द्वारा वहन किया जाये। सरकार संपूर्ण व्यय का दो तिहाई भाग दे।

विधेयक के प्रस्तुतीकरण के साथ गोखले ने अपनी विनम्रता को भी स्वयं से दूर ना किया उन्होंने अंग्रेजी सरकार को इसे स्वीकृत किये जाने का विनम्र अनुरोध करते हुए कहा था—

‘श्रीमान जी, संक्षेप में मेरा यह सम्पूर्ण विधेयक है। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा यात्रा के प्रथम चरणों के सम्बन्ध में सुझाव देने का यह लघु एवं तुच्छ प्रयास है।’ केंद्रीय सरकार ने उनके इस विनम्र अनुरोध का विनम्र प्रतिवाद करते हुए इस विधेयक को जनमत संग्रह के लिए विश्वविद्यालयी, प्रांतीय सरकारों एवं कुछ व्यक्तिगत संस्थाओं के पास भेज दिया।

इस विधेयक पर दो दिन की बहस के पश्चात यह विधेयक 13 वोटों के विरुद्ध 38 वोटों में गिरा दिया गया। अर्थात् 51 सदस्यों में से केवल 13 ने इसका समर्थन किया। सरकारी प्रवक्ता हर्टाग बटलर ने इस विधेयक का विरोध किया था। पं. मदन मोहन मालवीय तथा मोहम्मद अली जिन्ना भी उस समय इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्य थे उन्होंने इस विधेयक का समर्थन किया किंतु भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों ने सरकार के पक्ष में मत दिया।

गोखले का यह विधेयक यद्यपि तत्कालीन परिस्थितियों में ज्यों-का-त्यों स्वीकृत नहीं हो सका था। किंतु उनके इस प्रयास का प्रभाव शून्य था ऐसा भी हम नहीं कह सकते हैं। उनके इस विधेयक से प्रसारित संदेश ने भारतीय पुनर्जागरण के प्रवाह को सकारात्मक दिशा दी। इस विधेयक द्वारा वह भारतीय जनमानस में शिक्षा प्राप्ति के अवसरों की संभावनाओं का बीजारोपण कर सके थे। एक मीठा स्वप्न वह हम सब के बीच अवश्य प्रवाहित कर सके थे। आगे चलकर स्वतंत्र भारत में इस स्वप्न को साकार करने हेतु अनेक सकारात्मक प्रयास किये गए। तत्कालीन

परिस्थितियों में भी इस विधेयक ने पारित ना हो सकने के बावजूद बड़ी हलचल पैदा की थी। सभी राजनीतिक दलों ने इसका समर्थन किया था अतः 1910-1917 के बीच प्राथमिक शिक्षा हेतु गैर-सरकारी प्रयासों में तेज़ी आई। सरकार ने भी जनता के बीच अपनी छवि साफ़-सुथरी रखने के लिए प्राथमिक शिक्षा की ओर कुछ ध्यान दिया। 1911 में ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारतीय अंडरसेक्रेटरी को प्राथमिक शिक्षा के प्रति यथेष्ट ध्यान देने का निर्देश दिया गया।

अनिवार्य तथा निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा के गोखले के स्वप्न को स्वतंत्र भारत में बड़ा ही ऊँचा स्थान मिला। भारतीय संविधान की धारा 45 में यह घोषणा की गई कि संविधान लागू होने के समय से 10 वर्ष की अवधि के अंदर 14 वर्ष तक के बच्चों की अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त किया जाये।

गोखले की अनिवार्य तथा निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की कल्पना सभ्य, सुसंस्कृत व आधुनिक समाज के निर्माण का मूल मंत्र है। यह व्यवस्था समाज के प्रत्येक वर्ग को एक ऐसे दायरे में ले आती है जहाँ सभी को अपनी उन्नति के समान अवसर प्राप्त हो सकेंगे।

3. सशक्त तकनीकी तथा उच्च शिक्षा व्यवस्था

प्राथमिक शिक्षा के बाद उनका अगला प्रयास तकनीकी एवं उच्च शिक्षा के लिए था। गोखले का मानना था कि तकनीकी शिक्षा पर भारत का

औद्योगिक तथा आर्थिक विकास टिका हुआ है अतः इसके लिए एक आयोग स्थापित किया जाये तथा आवश्यक बजट का प्रावधान किया जाये। जब केन्द्रीय सरकार ने कृषि क्षेत्र में अनुसंधान, प्रशिक्षण आदि के लिए 20 लाख रुपयों का प्रावधान किया तो उन्होंने उसे सराहते हुए तकनीकी क्षेत्रों के लिए अधिक धन देने की मांग की। वह भारत में तत्कालीन उच्च शिक्षा की व्यवस्था से पूरी तरह संतुष्ट ना थे। उन्होंने कहा था 'उन्नीसवीं शताब्दी के विश्वविद्यालय उच्च कोटि के विद्वानों तथा वैज्ञानिकों के उत्पादन में मौलिक चिन्तन एवं अन्वेषण से पूर्णरूपेण असफल रहे हैं तथा उचित शिक्षा सम्बन्धी इनकी धारणाएँ बड़ी संकीर्ण हैं। परंतु इसके लिए उन्हें दोषी ठहराना न्यायसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि उनकी स्थापना ही भिन्न उद्देश्यों से की गई थी।' गोखले उच्च शिक्षा के माध्यम से भारतीय युवाओं की सोच को उदारवादी तथा आधुनिक बनाना चाहते थे और उन्हें रूढ़िवादिता की जंजीरों से मुक्त कराना चाहते थे। उन्होंने कहा भी था कि देश की समस्याएँ इतनी जटिल हैं जो शायद किसी अन्य देश में न होंगी। देश में अनेक विभाजन हैं। देश का एक बड़ा वर्ग अनपढ़ है। और पुराने संस्कारों से इस कदर लिपटा हुआ है कि किसी भी सामाजिक परिवर्तन की बात उनको समझाना बहुत मुश्किल है।

उच्च शिक्षा को इस मनोवृत्ति से उबारने का

2. शर्मा, बी.एम., शर्मा, रामकृष्ण दत्त, शर्मा, सविता, 2005, भारतीय राजनीतिक विचारक, रावत पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली, पृ.-231
3. सरस्वती, सी.एन., 1992, भारतीय राजनीतिक चिन्तन, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, पृ.-86-87

माध्यम बनाते हुए उन्होंने कहा था—‘आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार यदि यह शिक्षा सर्वश्रेष्ठ है तो भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि लोगों का जीवन चाहे राजनैतिक, सामाजिक, औद्योगिक, मानसिक किसी भी क्षेत्र में हो, एक सामूहिक इकाई है। आधुनिक शिक्षा का महानतम कार्य शिक्षा को इतना प्रोत्साहन देना नहीं, जितना भारतीय मस्तिष्क को पुरानी दुनिया के विचारों से मुक्त कराना है।’

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोपालकृष्ण गोखले ने भारत के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास का मूलाधार, शिक्षा को माना और शिक्षा के क्षेत्र में न्यायसंगत उपलब्धता पर ध्यान केंद्रित कर अनिवार्य तथा निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की अवधारणा हमारे सामने रखी। वह एक राजनेता होने के साथ-साथ अर्थशास्त्र के विद्वान भी थे। शिक्षा के क्षेत्र में मांग तथा पूर्ति के संतुलन हेतु आने वाली वित्तीय जटिलता के

लिए उन्होंने राज्य व स्वैच्छिक संस्थाओं के सम्मिलित प्रयास को स्वीकृति दी और शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर शिक्षा की उपलब्धता, उसकी उपादेयता को देश के आर्थिक विकास के साथ समायोजित करने के उपाय भी बताए। शैक्षिक प्रशासन के संबंध में उनके विचारों में हमें उनकी प्रशासकीय दक्षता देखने को मिलती है। वह एक सक्रिय समाज सुधारक नहीं थे किंतु वे भारतीय समाज में जागृति, समानता, प्रगति, आधुनिकता एवं राष्ट्रीय भावनाओं का विकास चाहते थे। उनका मानना था कि भारत को एक उन्नतिशील राष्ट्र बनाने के लिए जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता और असमानता को मिटाना आवश्यक है। उनका मानना था कि भारतीयों को स्वयं आगे आ कर अपनी सामाजिक बुराइयों, अंधविश्वासों, रूढ़ियों, एवं राग-द्वेष की दुर्भावनाओं का परित्याग करना चाहिए। वह इन सबके लिए शिक्षा को एक सशक्त माध्यम के रूप में प्रयुक्त करना चाहते थे।

विद्यालयी पाठ्यक्रम और संगीत शिक्षा

सुजाता साहा*

प्रायः हर प्रकार की संस्कृति में शिक्षा का आरंभ संगीत से किसी-न-किसी प्रकार जुड़ा होता है। शिशुओं से परिवार के लोग स्वरों के विविध उतार-चढ़ावों के माध्यम से संप्रेषण करते हैं। लोरी, शिशु गीत, पद्यात्मक बाल-कथाएँ ये सभी गेय होते हैं। विभिन्न प्रकार की लयात्मक भाव-भंगिमाओं का भी बाल-शिक्षा में प्रचुर प्रयोग होता है। बच्चों के ध्वन्यात्मक खिलौने संगीत का आधार लेकर ही निर्मित होते हैं।

संगीत शिक्षा का अपना सुविकसित विज्ञान है। उसके अनेक सकारात्मक पक्ष हैं। सामान्य शिक्षा में आवश्यकतानुसार उनके और बेहतर समावेश की आवश्यकता है। इस लेख में पाठ्यचर्या में संगीत शिक्षा के बहुउपयोगी आयामों का विश्लेषण किया गया है।

आदिकाल से संगीत आनंद सहित विभिन्न मानवीय भावों की अभिव्यक्ति का प्रचलित और सशक्त माध्यम रहा है। अध्यात्म एवं सौंदर्य-बोध से इसका जुड़ाव भी अत्यंत प्राचीन है। सामवेद, ब्राह्मण संहिता, गांधर्ववेद, प्रति शाख्य, नारदीय शिक्षा, छान्दोग्य उपनिषद्, नाट्यशास्त्र, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, संगीत रत्नाकर आदि इसी चिंतनधारा के पोषक हैं। संगीत मानव मन और मस्तिष्क को शांति तथा नवीन स्फूर्ति से पूर्ण कर देने में प्रभावी रूप से सक्षम है। संगीत (गायन एवं

वादन) के अनेक रूप हैं। क्लिष्ट हिन्दुस्तानी शास्त्रीय शैलियों में ध्रुपद, धमार, खयाल एवं गतों के विभिन्न प्रकार आते हैं तो दूसरी ओर इसके तुलनात्मक रूप से अधिक लोकप्रिय एवं सरलतर प्रकारों में उपशास्त्रीय संगीत, सुगम या भाव संगीत, लोक संगीत एवं फिल्म संगीत प्रमुख हैं।

सामान्य शिक्षा और संगीत

गायन, वादन तथा नृत्य का व्यक्तिगत अथवा सामूहिक प्रयोग ही संगीत है। बालक की सीखने

* रीडर, शिक्षा विभाग, वसंत महिला महाविद्यालय, के.एफ.आई., राजघाट फोर्ट, वाराणसी, पिन-221001 (उ.प्र.)।

की प्रक्रिया को रोचक बनाने के लिए अनिवार्यतः संगीत का प्रयोग किया जाता है, भले ही हम इस प्रयोग के प्रति जागरूक न हों। दार्शनिक प्लेटो का कथन है—

‘मैं उस व्यक्ति को कभी किसी पाठशाला में शिक्षक नहीं बनाऊँगा, जो संगीत की जानकारी न रखता हो।’

वस्तुतः संगीत सिखाई जाने वाली विषय-वस्तु के प्रति बालक की चंचल प्रवृत्ति को एकाग्र करने में अत्यधिक सहायक है। बालक प्रारंभ में अनुकरण द्वारा सीखता है। सांगीतिक शिक्षा भी अनुकरण की अपेक्षा करती है। नन्हे विद्यार्थी को संगीतमय विषयवस्तु नीरस और ऊबाऊ प्रतीत नहीं होती।

सामान्य शिक्षा में संगीत शिक्षा के इन सकारात्मक पक्षों को आवश्यकतानुसार संयुक्त कर लाभ उठाया जा सकता है—

1. सरल सम्प्रत्ययों का शिक्षण

बच्चों को सिखाए जाने वाले प्रारंभिक सम्प्रत्ययों को पद्य में सरल और रोचक बनाकर सिखाने की परंपरा रही है। जैसे, वर्णमाला के अक्षरों से संबद्ध शब्दों के उदाहरण—

अ - अच्छे-अच्छे हैं अमरूद ।

आ - आम खाकर पी लो दूध ॥

अथवा

अ - अजगर अजब जीव होता है। जो भी फँसा जान देता है॥

आ - आम फलों का राजा आया। लोगों ने बाज़ार सजाया।

ऐसी पद्यात्मक पंक्तियों को सुरों में निबद्ध कर सीखने की प्रक्रिया को रोचक और स्थायी किया जा सकता है। प्रारंभिक कक्षाओं में सिखाई जाने वाली कविताओं के साथ भी ऐसा किया जा सकता है।

2. श्रव्य-दृश्य सामग्रियों में संगीत

छोटे बच्चों के सीखने हेतु उपयोगी ऑडियो एवं वीडियो सी.डी. तथा डी.वी.डी. आजकल बाज़ार में आसानी से उपलब्ध हैं। इन सबमें तथा आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के शैक्षिक कार्यक्रमों में संगीत का अनिवार्यतः प्रयोग होता है। बच्चे संगीतमय ध्वनि के प्रभाव से दृश्य को प्रसन्नतापूर्वक देखकर सीखते हैं। गणित के ‘एक’ और ‘अनेक’ के सम्प्रत्यय के साथ एकत्व भाव को दूरदर्शन की प्रस्तुति—‘एक चिड़िया, अनेक चिड़िया’ व ‘हिन्द देश के निवासी सभी जन एक हैं, रंग-रूप वेश-भाषा चाहे अनेक हैं’—के द्वारा अत्यंत सुंदर और सुग्राह्य रूप से समझाया गया है।

3. सटीक अनुकरण की क्षमता का विकास

संगीत शिक्षा सर्वप्रथम अनुकरण की अपेक्षा रखती है। शिक्षक द्वारा गाए या बजाए गए स्वरों को शिक्षार्थी द्वारा हू-ब-हू अनुकरण का प्रयास अपेक्षित होता है। छोटे बालक भी अनुकरण द्वारा ही सीखते हैं। संगीत से जुड़ी शिक्षा के अंतर्गत विद्यार्थी अपने अनुकरण की त्रुटियों, जैसे, उच्चारण-दोष, स्वरों के उतार-चढ़ाव इत्यादि को ध्वन्यात्मक रूप में आसानी से समझ सकता है।

4. अभ्यास और धैर्य का महत्त्व

अभ्यास के अभाव में संगीत शिक्षा आगे नहीं बढ़ सकती और बिना धैर्य के लंबा अभ्यास जारी नहीं रह सकता। बच्चों के सीखने में प्रयास और त्रुटि के माध्यम से ही प्रगति होती है। संगीत की शिक्षा भी इसी प्रकार आगे बढ़ती है। विद्यार्थी को विषय का एक नया पहलू सीखने में परिश्रम करना पड़ता है और समय देना पड़ता है। इस दौरान शिक्षक उसका धैर्य बनाए रखने के लिए उत्साहवर्द्धन करता है। अभ्यास और धैर्य किसी विषय में दक्षता के लिए अनिवार्य है। इनके साथ शिक्षक के सही मार्गदर्शन का संयोग छोटी आयु के भी विद्यार्थी को संगीत की अच्छी समझ प्रदान कर सकता है। संगीत शिक्षा के ये सकारात्मक पक्ष किसी भी विषय की शिक्षा के मूलाधार हैं।

5. एकाग्रता का विकास

ध्वनि के विविध उतार-चढ़ावों एवं गति पर ध्यान केंद्रित किये बिना संगीत के शिक्षार्थी को स्वरों और ताल की समझ प्राप्त नहीं हो सकती। संगीत की सतत् शिक्षा क्रमशः एकाग्रता का विकास करती है। ध्वनि के प्रति संवेदनशीलता इतनी बढ़ जाती है कि एक समय ऐसा आता है, जब त्वरित गति से गाए या बजाए स्वरों को तत्काल पहचान लिया जाता है। एकाग्रता—किसी भी विषय के अध्ययन में अत्यधिक सहायक है।

6. अवधान-विस्तार में वृद्धि

संगीत की शिक्षा प्रारंभ में क्रमशः एक-एक स्वर अथवा छोटे स्वर-समूहों के अलंकारों से आरंभ

होती है और विद्यार्थी की समझ के विकास के साथ-साथ यह विभिन्न रागों के जटिल स्वर-विस्तार तक विस्तृत होती जाती है। इस प्रकार विद्यार्थी के अवधान में भी विस्तार होता है और आगे चलकर वह लंबे और कठिन स्वर-संयोजनों को एक ही बार सुनकर यथारूप गाकर या बजाकर दुहरा सकता है। अवधान-विस्तार का अधिक होना शिक्षा के क्षेत्र में एक सकारात्मक गुण है।

7. स्मृति का विकास

एकाग्रता एवं अवधान के विकास के फलस्वरूप संगीत के विद्यार्थी की स्मृति भी प्रखर हो जाती है। प्राचीन काल में जब संगीत की स्वरलिपि पद्धति का विकास नहीं हुआ था तो शिक्षार्थी सुनकर ही अनेक रागों की विविध रचनाओं को अपने स्मृतिकोष में सुरक्षित रखते थे। आज भी संगीत के अच्छे साधकों की स्मृति हमें अर्चभित कर देती है। स्मृति-सीखने का आधारस्तंभ है।

8. सृजनात्मकता का अभ्युदय

संगीत की निरंतर साधना का लक्ष्य व्यक्ति की सृजनात्मकता को स्वरों के माध्यम से अभिव्यक्ति देना है। बिना पूर्व योजना के स्वरों का किया गया सर्वथा नवीन और कर्णप्रिय संयोजन श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देता है। रटंत विद्या का संगीत के क्षेत्र में अत्यंत निम्न स्थान है। गुरु अपनी सृजनात्मकता से शिष्य को सूझ प्रदान करता है और उसे सृजन के लिए मुक्त छोड़ देता है। संगीत में नवीन और मौलिक रचनाओं की संभावना का कोई अंत नहीं है और यह सृजनात्मकता का

ही परिणाम है। शिक्षा का एक लक्ष्य सृजनात्मकता का विकास भी है।

9. शांत मन एवं एकांत साधना का महत्त्व

शोर-गुल भरे वातावरण या तनावपूर्ण मन से संगीत साधना नहीं की जा सकती। इसके लिए स्थिर और शांत मन-मस्तिष्क तथा एकांत माहौल की आवश्यकता होती है। किसी भी विषय के अध्ययन में एकाग्रता के लिए तनावपूर्ण मन-मस्तिष्क तथा एकांत वातावरण सर्वोपरि पूर्वावश्यकताएँ हैं।

10. सौंदर्य-बोध का विकास

संगीत की स्वर-रचनाएँ कर्णप्रिय होनी चाहिए। कौन सा स्वर-संयोजन कानों के लिए मधुर होगा, यह तत्काल निर्णीत कर गाया या बजाया जाता है। इस प्रकार, संगीत साधक का सौंदर्य-बोध निरंतर विकसित होता जाता है। सुख-दुःख के भावों, रसों, विविध ऋतुओं के सौंदर्य इत्यादि की गायन, वादन एवं नृत्य द्वारा अभिव्यक्ति सशक्त सौंदर्य-बोध द्वारा ही हो सकती है। सौंदर्य-बोध का साहित्य एवं ललित कलाओं में भी यथेष्ट महत्त्व है।

11. संगीत द्वारा मूल्य शिक्षा

विविध पद्य रचनाओं, जिनमें मूल्य शिक्षा निहित है उन्हें संगीतबद्ध कर मूल्य शिक्षा को छोटे बच्चों के लिए रोचक बनाया जा सकता है। यहाँ तक कि बड़ों पर भी सुरीले माध्यम से कही बात का प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, गंगा-प्रदूषण

संबंधी पर्यावरण चेतना हेतु लोक धुन में निबद्ध एक भोजपुरी रचना—

‘केहु गंगा के नीर न बिगाड़े ॥
चोटी से सुनल कइसन आवाज आई
लहरत बा लहर - लहर देत बा दुहाई
ध्यान से सुन, का कहे गुन
केहू एमे गलीज जनि डारे। केहु ...बिगाड़े ॥
भारत माता के अँचरा गंगा की धारा
मनवा ललचे रे देखि के किनारा
अरज एक बा, गरज एक बा
सब मिलि-जुलि के गंगा के सँवारे।
केहु ...बिगाड़े ॥’

आत्मपरिष्कार हेतु एक प्रार्थना—

‘भेद-भाव अपने दिल से साफ कर सकें
दोस्तों से भूल हो तो माफ कर सकें
झूठ से बचे रहें, सच का दम भरें
दूसरों की जय से पहले खुद को जय करें।
हमको मन की शक्ति देना मन विजय करें॥’

इस प्रकार मूल्य-शिक्षा को संगीत के माध्यम से और प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 ने संगीत को (अन्य कलाओं के साथ) विद्यालयी शिक्षा में एकीकृत करने का सुझाव दिया है एवं संगीत शिक्षा के उद्देश्य, विषय-वस्तु एवं शिक्षण विधियों को निम्न प्रकार से प्रस्तावित किया है—

संगीत

उच्च प्राथमिक स्तर

उद्देश्य

- भिन्न स्वरों एवं लय (ताल) के ज्ञान के आधार पर संगीत के प्रति संवेदनशील होना।

- गायन तथा वाद्य संगीत की विभिन्न शैलियों को पहचानना।

विषय-वस्तु तथा विधियाँ

विषय-वस्तु को उच्च प्राथमिक स्तर के बच्चों में संगीत के दोनों रूपों, गायन तथा वादन, के प्रति संवेदनशीलता को विकसित करने के योग्य होना चाहिए। शुद्ध एवं विकृत स्वरों की गहरी समझ एवं ज्ञान तथा कुछ अलंकारों को गाने की योग्यता सिखाई जानी चाहिए। राग आधारित संयोजना बच्चों को सिखाना चाहिए, गायन में छोटा ख्याल (राग) तथा वाद्य संगीत में द्रुत गति इस स्तर पर लाए जा सकते हैं। कर्नाटक संगीत भी शिक्षक विद्यार्थियों की योग्यता एवं उपलब्ध साधन के अनुसार सिखा सकते हैं। सामुदायिक गायन, लोक गायन, देश-भक्ति के गीत एवं भजन भी सिखाए जा सकते हैं। बच्चे अपने घर के सदस्यों से पारंपरिक गायन अथवा वादन सीख सकते हैं, और उन्हें कक्षा या विद्यालय में किसी अवसर पर प्रस्तुत करने के लिए उत्साहित किया जाना चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी को अपने प्रदर्शन में सुधार और विभिन्न गतिविधियों में भाग लेने के लिए अवसर दिया जाना चाहिए, जैसे सामूहिक गायन, वादन (ऑर्केस्ट्रा), युगल गीत, तीन लोगों के साथ के गीत इत्यादि। इसे इस स्तर पर विद्यार्थियों द्वारा विकसित किया जाना चाहिए।

संगीत शिक्षा को अधिक रूढ़िवादी ढंग से न देते हुए नए मौलिक तरीकों के लिए भी गुंजाइश रखनी चाहिए। विद्यार्थियों को विभिन्न समकालीन संगीतकारों-गायकों एवं वादकों-के बारे में बताना

चाहिए। विभिन्न प्रकार की गतिविधियों एवं परियोजना कार्यों के माध्यम से उन्हें संगीतकारों के चित्र, उनकी जीविका, गायन अथवा वादन शैली इत्यादि के बारे में सूचना एकत्रित करने के लिए कहना चाहिए और उन्हें कक्षा में प्रदर्शित किया जाना चाहिए। स्थानीय समुदाय/क्षेत्र के संगीतकारों को इस स्तर पर विद्यार्थियों को सिखाने की संभावना की खोज करनी चाहिए। श्रव्य-दृश्य साधनों के माध्यम से शिक्षक उन्हें यथासंभव शास्त्रीय गायन एवं वाद्य संगीत को सुनाने अथवा दिखाने का प्रबंध कर सकते हैं।

माध्यमिक स्तर

संगीत से विद्यार्थियों पर न केवल पाठ्यचर्या का बोझ कम होगा बल्कि उनके मन में चल रहे द्वंद्वों को भी कम करने में सहायता मिलेगी, साथ ही उनके भीतर की भावनाओं को भी बाहर निकलने का मौका मिलेगा। संगीत की सहायता से सृजनात्मक अभिव्यक्ति द्वारा उनमें उन्नत सौंदर्यबोध विकसित होने के कारण विद्यार्थी को भावनात्मक संतुलन एवं सामंजस्य स्थापित करने में सहायता मिलती है। इस स्तर पर विषय एक विधा का स्वरूप ले लेता है जिसे उच्च शिक्षा के स्तर पर भी जारी रखा जा सकता है। यह एक निर्णायक घड़ी है जहाँ स्कूली शिक्षा को उच्च शिक्षा से जोड़ा जाता है। इस स्तर पर संगीत की शिक्षा को महाविद्यालय की शिक्षा के साथ भी जोड़ा जाना चाहिए।

इस स्तर पर विद्यार्थियों के लिए विषय के सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक दोनों ही भाग समान रूप

से महत्वपूर्ण हैं। उनमें शास्त्रीय संगीत के ऐतिहासिक पहलू को भी विकसित करने की जरूरत है। विषय के सैद्धांतिक भाग में विद्यार्थियों को इस योग्य होना चाहिए कि वे विभिन्न रागों और स्वरों को स्पष्ट समझ से परिभाषित कर सकें।

विषय-वस्तु एवं विधियाँ

इस स्तर पर ताल, स्वर, आदि के माध्यम से विद्यार्थियों में शास्त्रीय संगीत के विभिन्न पहलुओं के प्रति मूल भाव जागृत करना चाहिए। इस स्तर पर रागों एवं उसके स्वरों की विशेषताओं के आधार पर विद्यार्थियों में विभिन्न रागों एवं स्वरों को पहचानने की क्षमता का विकास होना चाहिए।

उच्चतर माध्यमिक स्तर

विषय एवं प्रणाली

गायन : संगीत के वाद्य (सितार, सरोद, गिटार, वायलिन, बाँसुरी इत्यादि)

सिद्धांत : श्रुति, स्वर

- स्वरलिपि की काम करने लायक जानकारी

- सांगीतिक वाद्यों का वर्गीकरण
- संगीतकारों का योगदान और उनकी आत्मकथाएँ
- परियोजना कार्य

निष्कर्ष

इस प्रकार संगीत शिक्षा के अनेक सकारात्मक पक्ष हैं, जिन्हें सामान्य शिक्षा में नियोजित रूप से सम्मिलित कर हम बेहतर परिणाम प्राप्त कर सकते हैं विशेषकर, सामान्य शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर संगीत के योगदान से हम सभी भली-भाँति अवगत हैं। इस योगदान को और प्रभावपूर्ण बनाने हेतु संगीत शिक्षकों का सक्रिय प्रयास अपेक्षित है। माथुर (2009) ने माना है “...प्रारंभिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को सांगीतिक धुनों में बदलना और सिखाना शिक्षाविदों के लिए टेढ़ी खीर है, पर जब खीर बनेगी तो अवश्य ही स्वादिष्ट होगी।” शिक्षा के अन्य स्तरों पर भी संगीत को पाठ्यक्रम और विद्यार्थी की आवश्यकतानुसार संयुक्त कर सीखने और हृदयंगम करने की प्रक्रिया को प्रभावी किया जा सकता है।

संदर्भ

- गर्ग, लक्ष्मीनारायण, 1978, *निबंध संगीत*, संगीत कार्यालय, हाथरस।
 परांजपे, शरच्चंद्र श्रीधर, 1969, *भारतीय संगीत का इतिहास*, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
 माथुर, कविता, 2009, *बालक के सर्वांगीण विकास में संगीत की भूमिका*, संगीत कार्यालय, हाथरस, मई 2009।

माध्यमिक शिक्षा की गुणात्मकता: चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ

संजीव शुक्ला*

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार व प्रचार के लिए सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थानों द्वारा किये गए प्रयासों की वजह से हम प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लक्ष्य को लगभग प्राप्त कर चुके हैं। इसके परिणामस्वरूप माध्यमिक शिक्षा में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या में असाधारण वृद्धि हो रही है। माध्यमिक शिक्षा संपूर्ण शैक्षिक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण पड़ाव है जो उच्च शिक्षा की आधार शिला तैयार करती है। परंतु वर्तमान समय में शिक्षा की यह कड़ी कमजोर एवं उपेक्षित रही है। माध्यमिक शिक्षा की प्रमुख चुनौतियों की व्याख्या करते हुए यह लेख इसकी गुणवत्ता बढ़ाने के लिए आमूल-चूल परिवर्तन की सिफारिश करता है। इसी संदर्भ में लेख में माध्यमिक शिक्षा में गुणात्मक सुधार एवं इसके सार्वभौमिकरण के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए 'राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान' योजना पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

“स्वतंत्र भारत में माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण तथा नेतृत्व का प्रशिक्षण होना चाहिए, जिससे छात्र प्रगतिशील प्रजातांत्रिक-सामाजिक प्रणाली में सृजनात्मक रूप से भाग लेने में समर्थ हो सके।”

मुदालियर आयोग (1952)

शिक्षा को जीवन की प्रयोगशाला कहा गया है। शिक्षा ही वह सशक्त उपागम है, जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न संस्कारों के माध्यम से अपने शरीर, मन और आत्मा का समन्वित विकास कर समाज एवं राष्ट्र का योग्य नागरिक बनता है। नागरिकों को अपनी संभावनाओं की सर्वोच्चता पर प्रतिष्ठित

*प्रवक्ता (बी.एड.विभाग) श्री गाँधी महाविद्यालय, सिधौली, सीतापुर, उत्तर प्रदेश।

करना गुणात्मक शिक्षा का कार्य है। परंतु वर्तमान शिक्षा प्रणाली राष्ट्र निर्माण से दूर होकर सैद्धांतिक व सूचनात्मक होती जा रही है। समाज एवं उसकी समस्याओं से शिक्षा का संबंध-विच्छेद सा हो गया है। शिक्षा प्रणाली में समग्रता का अभाव-सा है, प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा जैसे कई स्तर बन गए हैं, जहाँ माध्यमिक शिक्षा के प्रति सरकार का दृष्टिकोण उदासीन है, वहीं प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमिकरण एवं उच्च शिक्षा का वैश्वीकरण हो रहा है। माध्यमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा की आधारशिला तथा तैयारी की अवस्था है। यदि इसकी नींव ही कमजोर हो तो फिर उच्च शिक्षा का भवन कैसा बनेगा, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। वर्तमान में माध्यमिक शिक्षा, शिक्षा की कड़ी में सबसे कमजोर, उपेक्षित एवं दोगम दर्जे की भूमिका का निर्वाह कर रही है। अतः आवश्यकता है कि माध्यमिक शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन कर इसे सशक्त एवं जनोपयोगी बनाया जाये, जिससे इस अवस्था में प्रवेश करने वाले किशोर छात्र-छात्रा शिक्षणोपरांत सुयोग्य नागरिक बनकर जीवन में प्रवेश करके समाज एवं राष्ट्र की उन्नति कर सकें।

उद्देश्य

शिक्षा आयोग (1964-66) ने शिक्षा को जीवन से संबंधित आवश्यकताओं एवं अभिलाषाओं के अनुरूप बनाने का सुझाव दिया, जिससे यह राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु आवश्यक सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन का एक शक्तिशाली साधन बन सके। शिक्षा आयोग ने

पाँच-सूत्रीय कार्यक्रम का सुझाव दिया, जो निम्नवत् है -

1. शिक्षा को उत्पादकता के साथ संबंधित करना।
2. शैक्षिक कार्यक्रमों द्वारा सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकीकरण को सशक्त करना।
3. शिक्षा द्वारा लोकतंत्र को सुदृढ़ करना।
4. उत्सुकता को जगाना, प्रवृत्तियों तथा मूल्यों को विकसित करना तथा अनिवार्य कौशलों के विकास द्वारा समाज का आधुनिकीकरण करना।
5. सामाजिक, नैतिक तथा अध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना इत्यादि प्रमुख हैं।

चुनौतियाँ

माध्यमिक शिक्षा की गुणवत्ता हेतु प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रूप में अधोलिखित चुनौतियाँ प्रमुख हैं-

1. माध्यमिक शिक्षा में छात्रों का सकल नामांकन अनुपात मात्र 43.82% है जबकि प्राथमिक शिक्षा में सफल अनुपात नामांकन 93.32% है, अर्थात् लगभग 56% छात्र माध्यमिक शिक्षा से आज भी वंचित हैं। (सातवाँ अखिल भारतीय विद्यालयी शिक्षा सर्वेक्षण, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली-2002)
2. कोठारी आयोग (1964-66) ने सुझाव दिया था कि शिक्षा पर आवंटन का 2/3 विद्यालयी शिक्षा पर, एवं 1/3 उच्च शिक्षा पर खर्च किया जाना चाहिए। परंतु आज शिक्षा पर आवंटित बजट प्रावधान के अंतर्गत सर्वाधिक (50 प्रतिशत) प्राथमिक शिक्षा पर खर्च किया जा रहा है।

3. माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) ने माध्यमिक शिक्षा की अधोलिखित तात्कालिक कमियों का उल्लेख किया था —
- क. माध्यमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम छात्रों की आवश्यकताओं एवं अभिरुचियों के अनुरूप नहीं है, जिससे छात्रों का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता है।
- ख. शिक्षण विधियों एवं पाठ्यक्रम के प्रारूप के कारण छात्रों में सहयोग की भावना, आत्मविश्वास, अनुशासन तथा आज्ञाकारिता जैसे गुणों का विकास समुचित नहीं हो पाता है।
- ग. माध्यमिक शिक्षा की परीक्षा प्रणाली वैध एवं विश्वसनीय नहीं है, अतः छात्रों की योग्यताओं, सृजनात्मकता एवं जिज्ञासा का समुचित मूल्यांकन नहीं हो पाता है।
- घ. माध्यमिक शिक्षा प्रणाली पुस्तकीय-ज्ञान केंद्रित है। इसमें जीवन-संबंधी कार्यप्रणाली तथा समस्याओं का बोध नहीं कराया जाता है।
- ङ. माध्यमिक शिक्षा में शिक्षक-छात्र संबंध एवं अन्तःक्रिया का अभाव होता है, जिससे शिक्षा की गुणवत्ता प्रभावित होती है।
- च. कक्षाओं में शिक्षक-छात्र अनुपात प्रभावी शिक्षण हेतु अव्यावहारिक होता है।
- छ. शिक्षणवृत्ति आकर्षक नहीं है।
4. माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षण प्रणाली मुख्यतया “चाक एवं टाक” विधि तक ही सीमित है। अध्यापन कार्य परंपरागत रूप में केवल व्याख्यान विधि पर ही आधारित होती है।
5. परीक्षा-केंद्रित माध्यमिक शिक्षा के कारण अनुचित साधनों का प्रयोग एक जीवन-पद्धति बन गया है, जो शिक्षकों को चयनात्मक अध्यापन एवं छात्रों को चयनात्मक अध्ययन हेतु अभिप्रेरित करती है। सूचना एवं उपाधि को ही शिक्षा का मूल उद्देश्य का पर्याय समझा जाने लगा है।
6. परीक्षा-केंद्रित एवं सूचना-केंद्रित होने के कारण माध्यमिक शिक्षा में सृजनात्मकता एवं जिज्ञासा का पूर्णतः अभाव है।
7. शिक्षा की अवधारणा में परिवर्तन का होना। वर्तमान सूचना-संचार युग में शिक्षा को एक ‘वस्तु’ माना जा रहा है, परिणामतः नैतिक मूल्यों के अभाव में माध्यमिक शिक्षा के अंतर्गत चरित्र निर्माण का स्थान धनार्जन ने ले लिया है जिससे पूरी माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था का अवमूल्यन हुआ है।
8. माध्यमिक शिक्षा प्रणाली में प्रचलित परीक्षा प्रणाली एवं मूल्यांकन सिर्फ छात्रों के संज्ञानात्मक पक्ष तक ही सीमित है, भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष पूर्णतः उपेक्षित हैं, जिससे छात्रों की निर्णय शक्ति, तर्कशक्ति, कल्पनाशक्ति, एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन का अभाव दिखता है।
9. माध्यमिक शिक्षा प्रणाली में प्रचलित शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया केवल स्मृति स्तर के शिक्षण तक ही सीमित है, जो छात्रों को रटने पर बल देती है, तथा अवबोध, परावर्तन,

संश्लेषण एवं विश्लेषण का पूर्णतः अभाव दिखता है।

10. शिक्षक एवं छात्रों के अध्ययन-अध्यापन के प्रति उदासीन दृष्टिकोण के कारण शिक्षण संस्थाएँ सिर्फ छात्रों के नामांकन एवं परीक्षा की शरणस्थली बन कर रह गई हैं।

संभावनाएँ

माध्यमिक शिक्षा में गुणवत्ता उन्नयन हेतु प्रतिबद्धता, सकारात्मक सोच एवं मिशनरी प्रयास द्वारा सार्वभौमिकरण की संस्कृति विकसित कर, चुनौतियों के संदर्भ में अधोलिखित रूप में समाधान के प्रयास किये जा सकते हैं—

1. माध्यमिक शिक्षा को सिर्फ सूचनात्मक, सैद्धांतिक एवं संज्ञानात्मक न बनाकर इसे भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्षों के समन्वित विकास हेतु प्रोत्साहित किया जाये।
2. शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को स्मृति स्तर (रटने पर जोर) के शिक्षण से अवबोध एवं चिंतन स्तर के शिक्षण की तरफ उन्मुख किया जाये।
3. माध्यमिक शिक्षा की शिक्षण पद्धति को “चाक एवं टाक” से सूचना एवं संचार तकनीक की तरफ प्रतिमान परिवर्तित किया जाए। विद्यार्थियों को स्वयं करके सीखने के अवसर प्रदान किये जायें।
4. माध्यमिक शिक्षा से ट्यूशन एवं कोचिंग को पूर्णतः प्रतिबंधित कर शिक्षक-छात्रों में कक्षा शिक्षण के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण एवं कार्य संस्कृति विकसित की जाए।

5. राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के आलोक में अधोलिखित संस्तुतियों का प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाये —

- क) माँग के अनुरूप परीक्षा का आयोजन।
 - ख) पास-फेल लिखने की जगह पुनःपरीक्षा वांछनीय।
 - ग) विद्यालय में सहायता एवं परामर्श केंद्र उपलब्ध कराना।
 - घ) पाठ आधारित परीक्षा की जगह समस्या समाधान एवं क्षमता आधारित मूल्यांकन।
 - ङ) सूचना को ज्ञान समझने की प्रवृत्ति पर नियंत्रण।
 - च) विद्यार्थियों के लिए सृजनात्मक और भावी कार्य-कौशल को सीखने के अवसर उपलब्ध कराना।
 - छ) शिक्षकों के व्यावसायिक दक्षता में सुधार से संबंधित तथ्य सेवा पूर्व एवं सेवारत प्रशिक्षण से संबंधित नीतियों में समाहित हो।
 - ज) माध्यमिक परीक्षा बोर्ड द्वारा पारंपरिक विषयों की जगह नये विकल्पों (व्यावसायिक विकल्प) को चुनने की छूट दी जाये।
6. माध्यमिक विद्यालयों की परीक्षा पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन करके 25-40% प्रश्न लघुत्तरीय एवं बहुविकल्पीय को समाहित कर छात्रों के तनाव को कम कर उनके उपलब्धि (अंकन) में वृद्धि किया जा सके।
7. शिक्षकों के दायित्व-बोध के निर्धारण हेतु मानकों का निर्धारण किया जाये।

8. माध्यमिक विद्यालयों में छात्रों की उपस्थिति एवं शिक्षण गतिविधियों में अभिभावकों की भी सहभागिता सुनिश्चित की जाये।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

निष्कर्षतः वर्तमान में माध्यमिक शिक्षा संक्रमण काल से गुजर रही है। आज सूचना को ज्ञान का पर्याय एवं शिक्षा को साधन के साथ-साथ साध्य बना दिया गया है। माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य केवल परीक्षा तक सीमित रहकर, केवल प्रमाणन तक रह गया है। शिक्षण संस्थाओं से शैक्षणिक परिवेश प्रायः लुप्त हो गये हैं, न ही कक्षा में ज्ञान-पिपासु छात्र दिखते हैं, न ही उनको ज्ञान प्रदान करने वाले शिक्षक। कोठारी आयोग का वक्तव्य—‘भारत का भाग्य कक्षाओं में आकार ले रहा है’—एक कोरी कल्पना मात्र रह गई है। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिये शिक्षण संस्थाओं में संख्यात्मक वृद्धि तो हुई, परंतु शिक्षा की गुणात्मकता में अपेक्षित बदलाव नहीं हुआ है। इसका मुख्य कारण समाज में मूल्यों का अवमूल्यन, सरकारी नीतियाँ एवं उनके क्रियान्वयन में सरकारी तंत्र की उदासीनता है।

वर्तमान में केंद्र सरकार ने सकारात्मक पहल करते हुए माध्यमिक शिक्षा में गुणात्मक सुधार एवं वैश्विक पहुँच के उद्देश्य से राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान नामक सर्वव्यापी योजना प्रारंभ की है। राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान (RMSA) का मुख्य उद्देश्य है माध्यमिक शिक्षा (कक्षा 8 से 10 तक) का विस्तार करना तथा

उसका स्तर सुधारना। राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान(RMSA), माध्यमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण (USE) का लक्ष्य हासिल करने के लिए भारत सरकार की नवीनतम पहल है।

लाखों बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा देने के लिए सरकार द्वारा स्थापित सर्वशिक्षा अभियान काफी हद तक सफल रहा है एवं इसने पूरे देश में माध्यमिक शिक्षा के आधारभूत ढांचे को शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता उत्पन्न कर दी है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अनुसार— “सर्व शिक्षा अभियान सफलतापूर्वक लागू होने से बड़ी संख्या में छात्र उच्च प्राथमिक कक्षाओं में उत्तीर्ण हो रहे हैं तथा माध्यमिक शिक्षा के लिए ज़बरदस्त मांग उत्पन्न कर रहे हैं।”

माध्यमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण की चुनौती का सामना करने के लिए माध्यमिक शिक्षा की परिकल्पना में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। इस संबंध में मार्गदर्शक तत्व हैं— कहीं से भी पहुँच, सामाजिक न्याय के लिए बराबरी, प्रासंगिकता, विकास, पाठ्यक्रम एवं ढाँचागत पहलू। माध्यमिक शिक्षा का सार्वभौमिकरण अभियान बराबरी की ओर बढ़ने का मौका देता है। इस अभियान में आम स्कूल की परिकल्पना प्रोत्साहित की जाएगी। यदि प्रणाली में ये मूल्य स्थापित किये जाते हैं, तो अनुदानरहित निजी विद्यालयों सहित सभी प्रकार के विद्यालय समाज के निचले वर्ग के बच्चों एवं गरीबी रेखा से नीचे (BPL) के परिवारों के बच्चों को उचित अवसर देना सुनिश्चित

कर माध्यमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण करने हेतु शिक्षा जगत से जुड़े बुद्धिजीवियों, (USE)के लिए उचित योगदान देंगे। इस नीति-नियामकों, समाज-सेवियों, प्रशासकों एवं अभियान के अंतर्गत यह सुनिश्चित किया जायेगा शिक्षकों को जन आंदोलन चलाकर इस मिशन कि माध्यमिक शिक्षा ले रहे सभी छात्रों को के प्रति सकारात्मक सोच एवं प्रतिबद्धता विकसित अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा मिले। करनी होगी, जिससे सही अर्थों में माध्यमिक

इस अभियान को सफल बनाने के लिए शिक्षा जीवन की प्रयोगशाला बन कर गुणात्मक सिर्फ सरकारी प्रयास एवं सैद्धांतिक अवधारणा उच्च शिक्षा के लिए मजबूत आधार प्रदान ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसके उद्देश्य प्राप्त कर सके।

संदर्भ

- राजपूत, जगमोहन सिंह, 2009, *शिक्षा में कौशल की अनदेखी* (दैनिक जागरण, लखनऊ, पृष्ठ-6)।
 सिंह, कर्ण, 2009, *भारत में शिक्षा प्रणाली का विकास*, लखीमपुर खीरी, गोविन्द प्रकाशन।
 पाठक, पी.डी., 2005, *भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ*, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
 त्यागी, गुरुशरण दास, 2002, *भारत में शिक्षा का विकास*, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
 लाल, रमन बिहारी, 2010, *भारतीय शिक्षा का इतिहास: विकास एवं समस्याएँ*, आर.लाल बुक डिपो, मेरठ।
www.indg.in/Rashtriya_Madhyamik_shiksha_Abhiyan
 एन.सी.ई.आर.टी. 2005, *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा*, नयी दिल्ली।

अध्यापक शिक्षा – सवालों के दायरे में

उषा शर्मा*

सम्यक् शिक्षा वही है जो विद्यार्थी को जीवन की कठोर यथार्थपरक और जटिल समस्याओं का सामना करना सिखाए ताकि वे जीवन के स्पंदन को महसूस कर सकें और तमाम तरह के सवालों को समझने योग्य बनाए, ताकि इसे उचित ठहराने के बजाय वे इसे समझें और इससे बाहर निकलने की कोशिश करें। जिससे एक मनुष्य होने के नाते केवल परंपरागत ढंग से विचार करते न रह जाएँ बल्कि कुछ नया करें। इस चर्चा का निहितार्थ यह है कि सम्यक् शिक्षा की जिम्मेदारी शिक्षक, शिक्षार्थी, विद्यालय, समाज, समुदाय की साझी भागीदारी है, केवल एकाध की नहीं। वास्तविक शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि शिक्षकों की शिक्षा 'अध्यापक-शिक्षा' के चरित्र को भी समझा और बदला जाये। अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त वैचारिक जड़ता को भी दूर करना होगा। स्वयं शिक्षकों को भी सम्यक् जीवन के लिए उपयोगी सम्यक् शिक्षा की स्पष्ट अवधारणा बनानी होगी। अध्यापक-शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिससे शिक्षक मननशील बन सकें और अपने विद्यार्थियों को भी इस ओर अग्रसर कर सकें। अध्यापक-शिक्षा के विषय में ऐसे ही महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विमर्श को आगे बढ़ाता है प्रस्तुत लेख।

जीवन किसी नदी-सा होता है और कभी स्थिर नहीं होता, सदैव गतिशील रहता है, सदैव जीवंत और समृद्ध होता है। जब हम समझते हैं कि हमने नदी के एक हिस्से को समझ लिया है और उस हिस्से को कसकर पकड़कर रखते हैं तो वह सड़ा हुआ पानी होता है क्योंकि नदी तो प्रवाह में रहती है। नदी की सारी गतिविधियों को उनसे सीधे संपर्क में होना, यही जीवन है और इसके लिए हम सभी को तैयार होना है। हमारा विद्यार्थी जगत भी इसका अपवाद नहीं है। यह शिक्षा और

*एसोसिएट प्रोफेसर, प्रारंभिक शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

शिक्षक का दायित्व है कि वह विद्यार्थियों का स्वतंत्रतापूर्वक विकास करे ताकि वे अपने आस-पास की चीजों को बदल सकें, संवेदनशून्य और जड़बुद्धि होकर अंधेरे में न खो जाएँ। प्रायः शिक्षकों की चिंता का विषय होता है—पाठ्यक्रम पूरा कैसे किया जाये? भाषा, गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान कैसे पढ़ाया जाये? परीक्षाओं में अच्छे अंक किस प्रकार दिलवाए जा सकें और उत्तीर्ण विद्यार्थियों का प्रतिशत किस प्रकार बढ़ाया जाये? लेकिन यह सोच संवेदनशून्य, यांत्रिक मतिमंद और असृजनशील है जो शिक्षा को केवल परीक्षाएँ पास कर लेने से जोड़कर देखती है या यूँ कहें कि वह शिक्षा और परीक्षा को एक-दूसरे के पर्याय के रूप में देखती है।

वस्तुतः सम्यक् शिक्षा वही है जो विद्यार्थी को जीवन की कठोर यथार्थपरक और जटिल समस्याओं का सामना करना सिखाए ताकि वे जीवन के स्पंदन को महसूस कर सकें और तमाम तरह के सवालों को समझने योग्य बनाए ताकि इसे उचित ठहराने के बजाय वे इसे समझें और इससे बाहर निकलने की कोशिश करें। जिससे एक मनुष्य होने के नाते केवल परंपरागत ढंग से विचार करते न रह जायें बल्कि कुछ नया करें। इस चर्चा का निहितार्थ यह है कि सम्यक् शिक्षा की जिम्मेदारी शिक्षक, शिक्षार्थी, विद्यालय, समाज, समुदाय की साझी भागीदारी है, केवल एकाध की नहीं। वास्तविक शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि शिक्षकों की शिक्षा 'अध्यापक-शिक्षा' के चरित्र को भी समझना, बदलना पड़ेगा।

अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त वैचारिक जड़ता को भी दूर करना होगा। स्वयं शिक्षकों को भी सम्यक् जीवन के लिए उपयोगी सम्यक् शिक्षा की स्पष्ट अवधारणा बनानी होगी। आचार्य रजनीश का मानना है कि मेरी दृष्टि में कोई भी व्यक्ति ठीक अर्थों में शिक्षक तभी हो सकता है जब उसमें विद्रोह की एक अत्यंत ज्वलंत अग्नि हो। जिस शिक्षक के भीतर विद्रोह की अग्नि नहीं है, वह किसी-न-किसी नीति, स्वार्थ का, चाहे समाज, चाहे धर्म, चाहे राजनीति उसका एजेंट होगा। शिक्षक के भीतर एक ज्वलंत अग्नि होनी चाहिए, विद्रोह की, चिंतन की, सोचने की। यह भी विचारणीय तथ्य है कि **जो व्यक्ति शास्त्र से बंध जाते हैं, वे चिंतन से कट जाते हैं।** जिनके लिए शास्त्र महत्वपूर्ण है उनके लिए समाधान महत्वपूर्ण है और जिनके लिए समस्याएँ महत्वपूर्ण हैं वे चिंतन की राह पर निकल जाते हैं। अध्यापक-शिक्षा के संदर्भ में भी हमें समाधान से ज्यादा समस्याओं पर ध्यान देना होगा। फिर तथाकथित शास्त्रबद्ध चिंतन से हटकर स्वतंत्र चिंतन करना होगा। सवाल खड़े करना जरूरी है। सवाल होंगे तो जवाब ढूँढने की चिंतनपरक प्रक्रिया शुरू होगी।

जब कभी शिक्षक का जिक्र आता है तो सामान्यतः हमारे सामने एक ऐसे व्यक्ति की तस्वीर उभरती है जो बच्चों से घिरा हुआ है, उनकी समस्याओं में उलझा हुआ है, उन्हें अधिक से अधिक सिखाने की कोशिशें करता हुआ अधपके बालों और आँखों पर मोटा चश्मा लगाए बेचैन है, तनाव में है। शिक्षक स्वयं अपने

शिक्षकत्व को समझ नहीं पा रहे हैं, अपनी गरिमा को स्वयं महसूस नहीं कर पा रहे हैं। वे स्वयं को समाज के एक ऐसे वंचित, दमित, शोषित वर्ग का हिस्सा समझते हैं, जिनका सम्मान, गरिमा, केवल राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कारों से जुड़ा है। राष्ट्रपति अथवा किसी अन्य प्रकार का पुरस्कार मिलने पर वे ही स्वयं की नज़रों में उठ पाते हैं अन्यथा एक असहाय, निरीह प्राणी से अधिक उन्हें अपना स्थान नज़र नहीं आता। इस तरह की मानसिकता के लिए स्वयं शिक्षकों के साथ-साथ समाज, शैक्षिक और प्रशासनिक व्यवस्थाएँ तथा राजनैतिक कारण भी ज़िम्मेदार हैं। विद्यार्थियों की तरह शिक्षकों को भी सफलता-असफलता के विभेद से जूझना पड़ता है। दरअसल **हमारा केंद्र बिंदु सफल की बजाय सुफल पर होना चाहिए। कहने का तात्पर्य है कि अच्छे कार्य पर बल होना चाहिए न कि प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता पर, जो अशांति और ईर्ष्या को उत्पन्न करती है।** प्रस्तुत संदर्भ में यह सवाल किसी को भी अटपटा-सा लग सकता है लेकिन गहराई से सोचें तो अहसास होता है कि अध्यापक-शिक्षा से जुड़ी व्यवस्थाएँ शिक्षक-प्रशिक्षुओं पर लगातार दबाव बनाए हुए हैं और बेहतर प्रक्रिया के बजाय बेहतर परिणामों पर बल दिया जाता है। अध्यापक-शिक्षा भी अंकों, श्रेणियों, ग्रेडों, प्रतिशतों, आदि के फेर में पड़ी हुई है। जबकि किसी भी अध्यापक-शिक्षा का मुख्य उद्देश्य शिक्षकत्व को भरपूर रूप से विकसित होने के अवसर प्रदान करना है। शिक्षक प्रशिक्षुओं के भीतर ऐसी क्षमताओं को पोषित-पल्लवित करना

है जो उन्हें एक सच्चा और प्रभावी शिक्षक बनने में सहायता करेगी। उसके भीतर ऐसे शांतिपूर्ण चिंतन को सक्रिय बनाना है जिससे विद्यार्थियों को बेहतर शिक्षा मिल सके। एक सुव्यवस्थित, सुविचारित, अध्यापक-शिक्षा अनेक पीढ़ियों पर अपना सकारात्मक प्रभाव अंकित करती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस अध्यापक-शिक्षा की प्रक्रिया से जो शिक्षक-प्रशिक्षु गुज़रकर वास्तविक शिक्षायी दुनिया में प्रवेश करते हैं वे अनेक पीढ़ियों को अपने नज़रिए के अनुसार शिक्षित करने का प्रयास करते हैं। इसका एक निहितार्थ यह भी है कि शिक्षकों की स्वयं की व्यावसायिक तैयारी का भी समाज के शिक्षित होने को प्रभावित करता है। इसका दूसरा निहितार्थ यह है कि अलग-अलग समाजों की बाहरी और भीतरी संरचनाएँ अपनी ही तरह की कुछ खास विशेषताओं से परिपूर्ण अध्यापक-शिक्षा की अपेक्षा करती हैं। हम न तो शिक्षा को समाज से काटकर देख सकते हैं और न ही अध्यापक-शिक्षा को। बदलते सामाजिक परिदृश्यों के अनुरूप अध्यापक-शिक्षा में भी अपेक्षित बदलाव ज़रूरी है।

आइए, अब इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए यह जानने-समझने का प्रयास करते हैं कि अध्यापक-शिक्षा का कलेवर क्या हो। सामान्यतः अध्यापक-शिक्षा की पूरी पाठ्यचर्या ज्ञान के कुछ विशिष्ट खंडों में विभाजित होकर शिक्षक-प्रशिक्षुओं के सामने प्रस्तुत की जाती है। चाहे वह शिक्षा का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य हो या सामाजिक या फिर मनोवैज्ञानिक—सभी में विदेशी शोध एवं विदेशी विवेचनाएँ हावी रहती हैं। हाँ, दार्शनिक परिप्रेक्ष्य

में भारतीय चिंतन एवं चिंतकों को कुछ जगह मिल जाती है। लेकिन मनोविज्ञान में हमें किसी भी ऐसे सिद्धांत या विवेचना की महक नहीं मिलती जो भारतीय मिट्टी से सुवासित हो। अगर हम यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में सामाजिक, राष्ट्रीय और कुछ हद तक अंतर्राष्ट्रीय चिंताएँ कार्य करती हैं तो भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही इन चिंताओं को समझना होगा। 'सा विद्या या विमुक्तये' को यदि हम केवल अध्यात्म से जोड़कर देखते रहे तो इस वाक्य के गूढ़ार्थ में छिपे अनेक सरोकारों से परिचित नहीं हो सकेंगे। भारतीय बालक-बालिकाओं के मानस से परिचित होना इसलिए जरूरी है ताकि शिक्षक अपनी शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को सही दिशा दे सकें। लेकिन हम भारतीय चरमों से भारतीय बालक-बालिकाओं को देखने का प्रयास करते हैं। यह तो स्वीकृत तथ्य हो सकता है कि प्रत्येक समाज के भीतर पलने वाले बच्चों पर अपने समाज की विशिष्टताओं की छाप होती है। उनका मनोविज्ञान उनके अपने समाज से उपजता है। उनकी रुचियाँ, अभिवृत्तियाँ, सृजनात्मकता, तनाव, दबाव, दुश्चिंताएँ उनके अपने समाज के भीतर से ही पनपती हैं। अतः एक भारतीय बच्चे के मनोविज्ञान, मन और व्यवहार को समझने के लिए भारतीय मनोविज्ञान को अध्यापक-शिक्षा में स्थान देना होगा। जिससे शिक्षक-प्रशिक्षुओं को अपने विद्यार्थियों के मनोविज्ञान को समझने में सुविधा हो सके।

किसी दूर-दराज के ग्रामीण क्षेत्र में अभावग्रस्त परिस्थितियों से जूझने वाले बच्चों अथवा किशोरों

के मनोविज्ञान को समझने के लिए उन कठोर यथार्थवादी परिस्थितियों से भी परिचय प्राप्त करना होगा। इस तरह के किशोर का मनोविज्ञान किसी सुविधा-संपन्न परिवार और शहरी क्षेत्र में रहने वाले किशोर के मनोविज्ञान से कई मायनों में अलग होगा। बहुलसंस्कृतिवादी और बहुभाषिक भारतीय परिवेश में इतना अधिक वैविध्य है कि उनमें रहने वाले बच्चों को बेहतर शिक्षा देने के लिए उनके पूरे सामाजिक-सांस्कृतिक तंत्र को भी भली प्रकार से समझना होगा। यह तभी संभव है जब भारतीय शिक्षा की बुनियाद भारतीय दर्शन, समाज और मनोविज्ञान की सुदृढ़ और गहरी नींव पर रखी जाएगी।

सेवारत शिक्षकों के प्रशिक्षण के दौरान अनुभवों की साझेदारी से यह मुद्दा गंभीरता से उभरकर आता है कि हमने अपने बी.एड. अथवा शिक्षक-प्रशिक्षण में पॉवलॉव, स्किनर, पियाजे के अथवा अन्य विदेशी सिद्धांत पढ़े थे वे हमारी कक्षाओं के भीतर दम तोड़ते नज़र आते हैं। कई बार ऐसी घटनाएँ घटती हैं जिन्हें किन्हीं परिचित सिद्धांतों के अनुसार न तो व्याख्यायित करना संभव होता है और न ही उनका सिद्धांतीकरण किया जा सकता है, तो फिर केवल ऐसे ही सिद्धांतों का अध्ययन क्यों किया जाये जो एक आम भारतीय बच्चे की वास्तविक स्थिति, छवि प्रस्तुत करने में उसके मनोविज्ञान, उसके अंतर्द्वंद्वों को समझने में सफल न हो।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि बहुभाषिकता भारतीय कक्षाओं की नियति और वास्तविक स्थिति है। भारत का प्रत्येक बच्चा

बहुभाषिक है। यह बहुभाषिकता विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक विकास में बाधक नहीं बल्कि साधक है। यह भी सर्वविदित है कि भाषा की शिक्षा केवल भाषा की कक्षाओं तक सीमित नहीं है बल्कि गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान की कक्षाएँ भी एक प्रकार से भाषा की ही कक्षाएँ हैं। अतः यह भी प्रत्येक शिक्षक-प्रशिक्षु को समझना होगा कि जब वे गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान पढ़ाते हैं तो उसमें भाषा-शिक्षा की प्रक्रिया मौजूद रहती है। विद्यार्थियों की भाषा और उनका भाषा-विकास किसी भी अनुशासन के अध्ययन-अध्यापन में क्या भूमिका निभाते हैं, इसकी भी स्पष्ट अवधारणा होना ज़रूरी है। वे शिक्षक जो गणित, विज्ञान अथवा सामाजिक विज्ञान पढ़ाते हैं, अक्सर विद्यार्थियों की भाषा-शिक्षा संबंधी समस्याओं से किनारा कर लेते हैं। वे अक्सर यह कहते हुए मिलते हैं कि भाषा-समस्या भाषा शिक्षक की है, हमारी नहीं। यह संकीर्णवादी धारणा विद्यार्थियों के लिए घातक हो सकती है। उन्हें यह समझना होगा कि गणित, विज्ञान आदि विषय किसी भाषा के माध्यम से ही समझे-समझाए जाते हैं अतः भाषा का सरोकार सभी विषयों के शिक्षकों का सरोकार है। इतना ही नहीं भाषा-शिक्षण के प्रति अंततः अनुशासनात्मक दृष्टिकोण होना चाहिए। इस मुद्दे को ध्यान में रखते हुए **भाषा-शिक्षा का पर्चा सभी शिक्षक-प्रशिक्षुओं के लिए अनिवार्य पर्चे के रूप में होना चाहिए** न कि केवल भाषा शिक्षक-प्रशिक्षुओं के लिए। इस पर्चे में भाषा के प्रकार्य, भाषा और सत्ता, भाषा और जेंडर, भाषा और अन्य विषयों

का अध्ययन, बच्चे की भाषा, घर की भाषा, समाज की भाषा आदि की प्रकृति और प्रकार्य, विभिन्न संचार माध्यमों की भाषा की भूमिका, समझ की भाषा आदि बिंदुओं पर गहनता से चिंतन किया जा सकता है। अतः भाषा-विमर्श को अनिवार्य पर्चे के रूप में अध्यापक-शिक्षा की पाठ्यचर्या में स्थान दिया जा सकता है।

जब हम सर्वशिक्षा अर्थात् सबके लिए शिक्षा की बात करते हैं और इतना ही नहीं जब **'शिक्षा का अधिकार'** की बात करते हैं तो शिक्षकों की ज़िम्मेदारी और भी अधिक बढ़ जाती है। ऐसा नहीं है कि इससे पहले शिक्षा शिक्षकों के चिंतन का सरोकार नहीं थी लेकिन अब शिक्षा का संवैधानिक पक्ष अपेक्षाकृत काफ़ी सुदृढ़ हो गया है। **शिक्षा को अब इस नए संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में देखने समझने की ज़रूरत है। अतः अध्यापक-शिक्षा की पाठ्यचर्या में शिक्षा का अधिकार और उससे जुड़े तमाम निहितार्थों को, व शिक्षकों की भूमिका को, पुनः परिभाषित करना होगा।** शिक्षक-प्रशिक्षुओं को इस रूप में तैयार करना होगा कि वे अपनी सुचिंतित और पुनः परिभाषित भूमिकाओं का ईमानदारी से वहन करने की योग्यता विकसित कर सकें। इसी से जुड़ा एक महत्वपूर्ण बिंदु है—**समावेशन की नीति अथवा समावेशी शिक्षा।** समावेशी शिक्षा की इस नवीन अवधारणा को भी एक अनिवार्य पर्चे के रूप में अध्यापक-शिक्षा की पाठ्यचर्या में शामिल करना होगा। इसी संदर्भ में विशिष्ट आवश्यकता वाले बच्चों की शिक्षा को लाना होगा, न कि वह एक अलग पर्चे का हिस्सा हो। जब हम समावेशन की

बात करते हैं तो हम दरअसल प्रत्येक बच्चे को शिक्षा की सामान्य धारा में शामिल करने की बात करते हैं, न कि केवल विशेष आवश्यकता वाले बच्चों की। शिक्षक-प्रशिक्षुओं में चिंतन हेतु यह दिशा और समझ विकसित करनी होगी कि हर वर्ग के हर बच्चे को शिक्षा की मुख्य धारा में कैसे शामिल किया जाये? प्रत्येक बच्चे की विशिष्ट विशेषताओं और आवश्यक विशिष्ट आवश्यकताओं के प्रति शिक्षक-प्रशिक्षु, को संवेदनशील बनाना भी अध्यापक- शिक्षा का मुख्य दायित्व होगा।

अब सवाल यह उठता है कि शिक्षक-प्रशिक्षुओं को शिक्षा के बदलते परिदृश्य के प्रति जागरूक, संवेदनशील कैसे बनाया जाये? यह जाहिर-सी बात है कि सैद्धांतिक की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया जाये। अध्यापक-शिक्षा की किसी भी पाठ्यचर्या में इतनी गुंजाइश तो होनी चाहिए कि शिक्षक-प्रशिक्षु –

- भारतीय समाज, विद्यालय व कक्षा के कठोर यथार्थ से परिचित हो सकें।
- भारतीय बच्चों के मनोविज्ञान, (मन और व्यवहार) तनाव, दबाव, दुश्चिंता और विशेषताओं को करीब से देख-समझ सकें।
- शिक्षा के अधिकार का भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करके अपने लिए निहितार्थ तय कर सकें।
- शिक्षा संबंधी किन्हीं भी सिद्धांतों की कक्षायी प्रक्रियाओं में ठोस रूप से जाँच-पड़ताल कर सकें और अपने लिए कारगर उपायों की पहचान कर सकें।

- विद्यार्थियों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक एवं भाषिक पृष्ठभूमि का सूक्ष्म-दृष्टि से निरीक्षण कर सकें।
 - व्यक्तिगत-भिन्नता की अवधारणा के साथ-साथ समूह के मनोविज्ञान की भी स्पष्ट एवं गहन समझ बना सकें।
 - बदलते परिदृश्यों में शिक्षा, शिक्षक, विद्यालय, समाज की बदलती भूमिका को समझ सकें।
 - अपनी कक्षाओं के लिए स्वयं अपने सिद्धांतों को गढ़ सकें।
 - प्रभावी शिक्षण की नवीन तकनीक से परिचित होते हुए उन्हें अपनी कक्षा की जरूरतों के अनुसार परिमार्जित, संशोधित कर सकें।
 - सभी प्रकार की विद्यालयी स्थितियों में संपन्न अथवा विपन्न में समान उत्साह से प्रभावी शिक्षण का कार्य कर सकें।
- उपर्युक्त बिंदुओं की प्राप्ति के लिए शिक्षक-प्रशिक्षुओं को प्रशिक्षण-केंद्रों से बाहर वास्तविक कक्षाओं में ले जाना होगा जहाँ व्यक्तिगत भिन्नता के अधिकाधिक उदाहरण और उन्हें विद्यालयी व्यवस्था, शिक्षा-तंत्र से परिचित होने का अवसर भी मिलेगा। राजस्थान के खंडाच ढाँगी जैसे गाँव में जहाँ आना-जाना सुगम नहीं है, जहाँ पानी की किल्लत है, जहाँ बच्चे इसलिए पढ़ने नहीं आते क्योंकि उन्हें अपने छोटे भाई-बहनों के साथ-साथ अपने छोटे पालतू पशुओं की भी देखभाल करनी होती है, जहाँ बारिश में कमरों में

पानी टपकता है, जहाँ न बिजली है, जहाँ न सर्दी, गर्मी, बरसात से बचने के सरल उपाय हैं, जहाँ सर्दियों में एक ही अलाव के सामने बच्चे और कुत्ते साथ बैठते हैं—वहाँ शिक्षा का वास्तविक अर्थ तय करना सरल न होगा। जब तक पूरे हिंदुस्तान के अलग-अलग हिस्सों की भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्थितियों को नज़दीक से देखने, समझने का अवसर नहीं मिलेगा तब तक शिक्षा की परिभाषा किताबों से या प्रवचनों से रटी जाएगी। अतः ज़रूरी है कि शिक्षक-प्रशिक्षुओं को शिक्षा-संबंधी किसी भी सैद्धांतिक चर्चा से पहले ही कक्षाओं व कक्षायी अभ्यासों का सूक्ष्म अवलोकन करने का अवसर प्रदान किया जाये ताकि जब प्रशिक्षण के दौरान सैद्धांतिक चर्चा हो तो वे समस्त बिंदुओं का साथ-साथ गहन विश्लेषण करते चलें और अव्यावहारिक हिस्सों पर पुनर्विचार करते चलें। दूर-दराज़ के ग्रामीण विद्यालयों, ग्रामीण शिक्षकों, ग्रामीण बच्चों के साथ बातचीत करने, उनके अनुभवों की साझेदारी को भी अध्यापक-शिक्षा की पाठ्यचर्या में स्थान दिया जा सकता है। उन्हें यह अहसास भी हो सके कि जहाँ शिक्षा की ऊपरी परतें, जो बेहद रंगीन नज़र आती हैं उनकी नीचे की भीतरी परतें कितनी बदरंग हैं। शिक्षा की अपनी चुनौतियाँ, वही भीतरी परतें हैं जो खुली आँखों से भी नज़र नहीं आतीं। जिन्हें जानने के लिए गहन अवलोकन, मनन की आवश्यकता है।

गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए बच्चों के अधिकार को ध्यान में रखते हुए ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता अनुभूत की जाती है जिनमें

समाज और दुनिया के प्रति समीक्षात्मक समझ हो तथा जो मौजूदा शिक्षायी जड़ता का सामना कर सकें और उचित, व्यावहारिक विकल्पों की खोज कर सकें। यह भी सत्य है कि शिक्षा के संबंध में बुनियादी विचारों की जानकारी एवं दुनिया-भर में चल रहे शिक्षायी विमर्श की जानकारी शिक्षक को उसकी अकादमिक परिस्थितियों से जूझने में मदद करती है। उसे दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में चल रहे शिक्षायी नवाचारों की भी जानकारी हो जो उसे चुनौतियों का सामना करने अथवा 'विकल्प' तलाशने में मदद करेंगी। **अध्यापक-शिक्षा का एक महत्वपूर्ण पक्ष है - 'शिक्षा का साहित्य'।** जब हम साहित्य को समाज का दर्पण मानते हैं तो इस साहित्य में समाज में व्याप्त शिक्षा की झलक मिलेगी जो तत्कालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा को समझने में मददगार होगी। इसी प्रकार शिक्षा का भी साहित्य है जिन्हें कक्षा के वास्तविक अनुभवों को दर्ज करते हुए रचा गया है। शिक्षा का साहित्य शिक्षकों की इस रूप में सहायता करेगा कि वे संस्कृति और समाज के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा को समझ सकें। उदाहरण के लिए **गिजुभाई का 'दिवास्वप्न', जे. कृष्णमूर्ति का 'संवाद शिक्षकों व छात्रों से' (शिक्षा क्या है?), महात्मा गांधी का 'हिंद स्वराज', रवींद्रनाथ टैगोर की 'शिक्षा', एस.ए. नील का 'समरहिल'** का अनुभव आदि। विभिन्न विद्वानों के शैक्षिक लेखों, विचारों, अनुभवों को 'शिक्षा का साहित्य' पर्व में स्थान दिया जा सकता है ताकि उनके जीवंत अनुभवों से यह समझा जा सके कि किस तरह समाज और शिक्षा

एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और शिक्षा के असली मायने क्या हैं? साथ ही वे अतीत की वास्तविक कक्षाओं के झरोखे से झाँककर देख सकें कि चुनौतियों का मुकाबला किस तरह किया जा सकता है और बच्चों का स्वभाव कैसा होता है?

उपर्युक्त चर्चा के उपरांत कहा जा सकता है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए ऐसे सजग, प्रतिबद्ध एवं मननशील शिक्षकों की आवश्यकता है जो न केवल विद्यालयी गतिविधियों के विभिन्न पक्षों की आलोचनात्मक समीक्षा कर सकें बल्कि कुशलतापूर्वक इन गतिविधियों को कक्षा में क्रियान्वित भी कर सकें। शिक्षा की समस्त, प्रक्रियाओं के निर्धारण में अपनी हस्तक्षेपकारी भूमिका को समझ सकें। **अतः अध्यापक-शिक्षा का स्वरूप ऐसा हो जो शिक्षा को क्रांति के रूप में स्थापित कर सके।** अध्यापक-शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिससे शिक्षक मननशील बन सकें और अपने विद्यार्थियों को भी इस ओर अग्रसर कर सकें। 'क्या विचार किया जाये' से

महत्वपूर्ण बिंदु हैं—'कैसे विचार किया जाये'। विचार-विमर्श की यह क्षमता शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। अध्यापक-शिक्षा की पाठ्यचर्या, विषय-वस्तु और शिक्षण-शास्त्र में इस प्रकार से संशोधन किया जाये कि शिक्षक हर प्रकार की परिस्थिति—संपन्न और विपन्न, शहरी और ग्रामीण—में विद्यार्थियों के लिए बेहतर शिक्षा का द्वार खोल सकें। उनमें अपने व्यवसाय के प्रति जवाबदेही की चेतना को भी जागृत करना होगा। इन सबके लिए आवश्यक है कि पहले स्वयं शिक्षक अपने ऊपर भरोसा कर सकें, अपनी क्षमताओं में निखार और पैनापन ला सकें। यह परिदृश्य सैद्धांतिक ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक कार्य-प्रणाली पर बल देता है। हम सिद्धांत से व्यवहार की ओर न बढ़ें बल्कि व्यवहार से स्वयं के सिद्धांत बनाएँ। कक्षायी-अभ्यासों में उनकी जाँच-पड़ताल करें और जो सिद्धांत कक्षा के कठोर यथार्थ की भूमि पर दम तोड़ देते हैं—उनका पुनर्सृजन करें, नए सिरे से नए सिद्धांतों की रचना करें।

शिक्षा का अधिकार अधिनियम : विभिन्न वर्गों की जागरूकता का विश्लेषणात्मक अध्ययन

ऋतु भारद्वाज*

1 अप्रैल 2010 को प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह ने अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा के अधिकार अधिनियम को देश के बच्चों को समर्पित करते हुए कहा कि “शिक्षा बच्चों का हक है, नौजवान हमारे देश का भविष्य हैं और यह कानून उन्हें ताकतवर बनायेगा। मैंने लालटेन की रोशनी में पढ़ाई की है, मैं आज जो कुछ हूँ शिक्षा की वजह से हूँ। मैं चाहता हूँ कि हर भारतीय बच्चा, चाहे वह लड़का हो या लड़की, शिक्षा की रोशनी में नहाए। मैं हर भारतीय के लिए कामना करता हूँ कि वह बेहतर भविष्य का सपना देखे और उसका यह सपना पूरा हो। बच्चों को शिक्षित करने में धन की कमी आड़े नहीं आने दी जायेगी।” वास्तव में “शिक्षा का अधिकार” कानून का लागू होना देश को प्रगति के पथ पर ले जाने की कोशिश के रूप में एक मील का पत्थर है। परंतु इस अधिनियम को लागू करने में बहुत सी चुनौतियाँ हैं जिनका विश्लेषण करना बहुत ज़रूरी है। शिक्षा का अधिकार अधिनियम को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए समाज के सभी वर्गों का जागरूक होना आवश्यक है।

शिक्षा के अधिकार से संबंधित संविधान में अनुच्छेद 21क, अनुच्छेद 41, 45, 46 के अंतर्गत अनेक प्रकार के प्रयत्नों द्वारा बच्चों को शिक्षित करने का प्रावधान दिया गया है।

निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार संबंधी खर्च, प्रधानाचार्य का कर्तव्य, माता-पिता तथा शिक्षक का कर्तव्य राज्य तथा केंद्र सरकार आदि के कर्तव्य के लिए भी संविधान की

*व्याख्याता, शिक्षा संकाय, एस्ट्रोन कॉलेज ऑफ एजुकेशन, मेरठ, उत्तर प्रदेश

धारा 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 11, 12, 13, 16, 17 तथा वांछित खेल-कूद संबंधी अथवा शैक्षिक उपकरण उपलब्ध कराने एवं विद्यालय द्वारा यह सब सुविधा अनुपलब्ध कराने पर धारा 19, शिक्षकों द्वारा नियम का उल्लंघन करने पर अनुशासनात्मक कार्यवाही हेतु धारा 23 व 24 तथा शिक्षकों का इतर कार्यों में संलग्न करने हेतु धारा 27 व 28 निर्धारित है। इतना सब निश्चित होने के उपरांत, शिक्षा का अधिकार अधिनियम के लागू होने के उपरांत भी राज्य सरकार तथा केंद्र सरकार की स्थिति अभी भी उदासीन बनी हुई है। इस संदर्भ में अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा का अधिकार अधिनियम के उचित क्रियान्वयन द्वारा लक्ष्य प्राप्ति हेतु समाज के विभिन्न वर्गों यथा-व्यावसायिक बौद्धिक, अभिभावक, शिक्षक एवं छात्र वर्ग के लोगों से इस अधिनियम के विषय में प्रतिक्रिया तथा बाधा ज्ञात करने का प्रयास स्वनिर्मित प्रश्नावली के माध्यम से किया गया। सर्वेक्षण विधि का आश्रय लेते हुए जनसंख्या एवं न्यादर्श इस प्रकार रहा-

सारणी 1

वर्ग	क्रम संख्या	स्तर	चयनित वर्ग	संख्या
शिक्षक	1	प्राथमिक स्तर	3	10
	2	माध्यमिक स्तर	3	
	3	उच्च स्तर	4	
अभिभावक	1	प्राथमिक स्तर छात्र	3	10
	2	माध्यमिक स्तर छात्र	3	
	3	उच्च स्तर छात्र	4	
व्यावसायिक वर्ग	1	निम्न आय	3	10
	2	मध्य आय	3	
	3	उच्च आय	4	
बौद्धिक वर्ग	1	वयोवृद्ध	3	10
	2	समाज सेवक	3	
	3	राजनीतिज्ञ	4	
छात्र	1	माध्यमिक स्तर	5	10
	2	उच्च स्तर	5	

न्यादर्श एवं जनसंख्या

संपूर्ण तथ्य एकत्र करने के उपरान्त शिक्षा के प्रति जागरूकता एवं बाधा आदि का विश्लेषण करने के लिए Annova Test का उपयोग किया गया। प्रत्येक वर्ग की एक-दूसरे वर्ग से तुलना की गई।

इन समूहों में A (शिक्षक वर्ग) का B (अभिभावक वर्ग) के साथ शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता जानने का प्रयास किया। A समूह का मध्यमान 227 प्राप्त हुआ, B समूह का मध्यमान 222 प्राप्त हुआ, इन दोनों समूहों के मध्य प्रसरण विश्लेषण (Analysis of Variance) के मध्यमान के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता जानने के लिए निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए:

दोनों समूहों के मध्य सार्थकता .474 प्राप्त होने पर F परीक्षण तालिका का प्रयोग किया गया उसके सार्थकता स्तर की जाँच करने पर सार्थकता स्तर 'सार्थक' पाया गया। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही वर्ग शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति बराबर जागरूक हैं, अर्थात् अधिनियम के प्रति सकारात्मक विचार रखते हैं।

इन समूहों में शिक्षक वर्ग (A) तथा व्यावसायिक वर्ग (C) का शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता जानने का प्रयास किया। (A) समूह का मध्यमान 6.050 प्राप्त हुआ, C समूह का मध्यमान 230.383 प्राप्त हुआ, इन दोनों समूहों के मध्य प्रसरण विश्लेषण (Analysis of Variance) के मध्यमान के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता जानने के लिए निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए:

सारणी 2

समूह 'A' (शिक्षक वर्ग) का समूह 'B' (अभिभावक वर्ग) के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता स्तर

	<i>Sum of Squares</i>	<i>df</i>	<i>Mean Square</i>	<i>F</i>	<i>Sig.</i>
Between Groups	140.450	1	140.450	0.536	0.474
Within Groups	4720.100	18	262.228		
Total	4860.550	19			

सारणी 3

समूह 'A' (शिक्षक वर्ग) का समूह 'C' (व्यावसायिक वर्ग) के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता स्तर

	<i>Sum of Squares</i>	<i>df</i>	<i>Mean Square</i>	<i>F</i>	<i>Sig.</i>
Between Groups	6.050	1	6.050	0.026	0.873
Within Groups	4145.900	18	230.383		
Total	4152.950	19			

दोनों समूहों के सार्थकता 0.873 प्राप्त होने पर F परीक्षण तालिका का प्रयोग किया गया उसके सार्थकता स्तर की जाँच करने पर सार्थकता स्तर 'सार्थक' पाया गया। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही वर्ग शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति बराबर जागरूक हैं, अर्थात् अधिनियम के प्रति सकारात्मक विचार रखते हैं।

इन समूहों में शिक्षक वर्ग (A) तथा बौद्धिक वर्ग (D) का (बौद्धिक) शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता जानने का प्रयास किया। A समूह का मध्यमान 259.200 प्राप्त हुआ, D समूह का मध्यमान 195.811 प्राप्त हुआ, इन दोनों समूहों के मध्य प्रसरण विश्लेषण (Analysis of Variance) के मध्यमान के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता जानने के लिए निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए:

दोनों समूहों के सार्थकता 0.265 प्राप्त होने पर F परीक्षण तालिका का प्रयोग किया गया उसके सार्थकता स्तर की जाँच करने पर सार्थकता स्तर 'सार्थक' पाया गया। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही वर्ग शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति बराबर जागरूक हैं, अर्थात् अधिनियम के प्रति सकारात्मक विचार रखते हैं।

इन समूहों में शिक्षक वर्ग (A) तथा छात्र वर्ग (E) का शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता जानने का प्रयास किया। A समूह का मध्यमान 594.050 प्राप्त हुआ, E समूह का मध्यमान 264.828 प्राप्त हुआ, इन दोनों समूहों के मध्य प्रसरण विश्लेषण (Analysis of Variance) के मध्यमान के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता जानने के लिए निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए:

सारणी 4

समूह 'A' (शिक्षक वर्ग) का समूह 'D' (बौद्धिक वर्ग) के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता स्तर

	<i>Sum of Squares</i>	<i>df</i>	<i>Mean Square</i>	<i>F</i>	<i>Sig.</i>
Between Groups	259.200	1	259.200	1.324	0.265
Within Groups	3524.600	18	195.811		
Total	3783.800	19			

सारणी 5

समूह 'A' (शिक्षक वर्ग) का समूह 'B' (छात्र वर्ग) के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता स्तर

	<i>Sum of Squares</i>	<i>df</i>	<i>Mean Square</i>	<i>F</i>	<i>Sig.</i>
Between Groups	594.050	1	594.050	2.243	0.152
Within Groups	4766.900	18	264.828		
Total	5360.950	19			

दोनों समूहों के सार्थकता 0.152 प्राप्त होने पर F परीक्षण तालिका का प्रयोग किया गया उसके सार्थकता स्तर की जाँच करने पर सार्थकता स्तर 'सार्थक' पाया गया। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही वर्ग शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति बराबर जागरूक हैं, अर्थात् अधिनियम के प्रति सकारात्मक विचार रखते हैं।

अभिभावक वर्ग (B) तथा व्यावसायिक वर्ग (C) का शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता जानने का प्रयास किया। B समूह का मध्यमान 204.800 प्राप्त हुआ, C समूह का मध्यमान 153.667 प्राप्त हुआ, इन दोनों समूहों के मध्य प्रसरण विश्लेषण (Analysis of Variance) के मध्यमान के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता जानने के लिए निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए:

दोनों समूहों के सार्थकता 0.263 प्राप्त होने पर F परीक्षण तालिका का प्रयोग किया गया उसके सार्थकता स्तर की जाँच करने पर सार्थकता स्तर 'सार्थक' पाया गया। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही वर्ग शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति बराबर जागरूक हैं, अर्थात् अधिनियम के प्रति सकारात्मक विचार रखते हैं।

इन समूहों में अभिभावक वर्ग (B) का बौद्धिक वर्ग (D) के साथ शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता जानने का प्रयास किया। B समूह का मध्यमान = 781.250 प्राप्त हुआ, D समूह का मध्यमान 119.094 प्राप्त हुआ, इन दोनों समूहों के मध्य प्रसरण विश्लेषण (Analysis of Variance) के मध्यमान के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता जानने के लिए निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए:

सारणी 6

समूह 'B' (अभिभावक वर्ग) का समूह 'C' (व्यावसायिक वर्ग) के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता स्तर

	<i>Sum of Squares</i>	<i>df</i>	<i>Mean Square</i>	<i>F</i>	<i>Sig.</i>
Between Groups	204.800	1	204.800	1.333	0.263
Within Groups	2766.000	18	153.667		
Total	2970.800	19			

सारणी 7

समूह 'B' (अभिभावक वर्ग) का समूह 'D' (बौद्धिक वर्ग) के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता स्तर

	<i>Sum of Squares</i>	<i>df</i>	<i>Mean Square</i>	<i>F</i>	<i>Sig.</i>
Between Groups	781.250	1	781.250	6.560	0.020
Within Groups	2143.700	18	119.094		
Total	2924.950	19			

दोनों समूहों के सार्थकता .020 प्राप्त होने पर F परीक्षण तालिका का प्रयोग किया गया उसके सार्थकता स्तर की जाँच करने पर सार्थकता स्तर 'सार्थक' पाया गया। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही वर्ग शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति बराबर जागरूक हैं अर्थात् अधिनियम के प्रति सकारात्मक विचार रखते हैं।

इन समूहों में अभिभावक वर्ग (B) तथा छात्र वर्ग (E) के साथ शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता जानने का प्रयास किया। B समूह का मध्यमान 156.800 प्राप्त हुआ, E समूह का मध्यमान 188.111 प्राप्त हुआ, इन दोनों समूहों के मध्य प्रसरण विश्लेषण (Analysis of Variance) के मध्यमान के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता जानने के लिए निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए:

दोनों समूहों के सार्थकता 0.373 प्राप्त होने पर F परीक्षण तालिका का प्रयोग किया गया उसके सार्थकता स्तर की जाँच करने पर सार्थकता स्तर 'सार्थक' पाया गया। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही वर्ग शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति बराबर जागरूक हैं, अर्थात् अधिनियम के प्रति सकारात्मक विचार रखते हैं।

इसके साथ ही व्यावसायिक वर्ग (C) का बौद्धिक वर्ग (D) के साथ शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता जानने का प्रयास किया। C समूह का मध्यमान 186.050 प्राप्त हुआ, D समूह का मध्यमान 87.250 प्राप्त हुआ, इन दोनों समूहों के मध्य प्रसरण विश्लेषण (Analysis of Variance) के मध्यमान के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता जानने के लिए निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए:

सारणी 8

समूह 'B' (अभिभावक वर्ग) का समूह 'E' (छात्र वर्ग) के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता स्तर

	<i>Sum of Squares</i>	<i>df</i>	<i>Mean Square</i>	<i>F</i>	<i>Sig.</i>
Between Groups	156.800	1	156.800	0.834	0.373
Within Groups	3386.000	18	188.111		
Total	3542.800	19			

सारणी 9

समूह 'C' (व्यावसायिक वर्ग) का समूह 'D' (बौद्धिक वर्ग) के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता स्तर

	<i>Sum of Squares</i>	<i>df</i>	<i>Mean Square</i>	<i>F</i>	<i>Sig.</i>
Between Groups	186.050	1	186.050	2.132	0.161
Within Groups	1570.500	18	87.250		
Total	1756.550	19			

दोनों समूहों के मध्य सार्थकता 0.161 प्राप्त होने पर F परीक्षण तालिका का प्रयोग किया गया, उसके सार्थकता स्तर की जाँच करने पर सार्थकता स्तर 'सार्थक' पाया गया। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही वर्ग शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति बराबर जागरूक हैं, अर्थात् अधिनियम के प्रति सकारात्मक विचार रखते हैं।

इन समूहों में व्यावसायिक वर्ग (C) का छात्र वर्ग (E) के साथ शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता जानने का प्रयास किया। यहाँ पर सर्वप्रथम समूह C का मध्यमान 720.000 प्राप्त हुआ, E समूह का मध्यमान 156.267 प्राप्त हुआ, इन दोनों समूहों के मध्य प्रसरण विश्लेषण (Analysis of Variance) के मध्यमान के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता जानने के लिए निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए:

दोनों समूहों के सार्थकता .046 प्राप्त होने पर F परीक्षण तालिका का प्रयोग किया गया उसके सार्थकता स्तर की जाँच करने पर सार्थकता स्तर 'सार्थक' पाया गया। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही वर्ग शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति बराबर जागरूक हैं, अर्थात् अधिनियम के प्रति सकारात्मक विचार रखते हैं।

इन समूहों में बौद्धिक वर्ग (D) का छात्र वर्ग (E) के साथ शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति जागरूकता जानने का प्रयास किया। समूह D का मध्यमान 1638.050 प्राप्त हुआ, समूह का E मध्यमान 121.694 प्राप्त हुआ, इन दोनों समूहों के मध्य प्रसरण विश्लेषण (Analysis of Variance) के मध्यमान के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता जानने के लिए निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए:

सारणी 10

समूह 'C' (व्यावसायिक वर्ग) का समूह 'E' (छात्र वर्ग) के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता स्तर

	<i>Sum of Squares</i>	<i>df</i>	<i>Mean Square</i>	<i>F</i>	<i>Sig.</i>
Between Groups	720.000	1	720.000	4.608	0.046
Within Groups	2812.800	18	156.267		
Total	3532.800	19			

सारणी 11

समूह 'D' (बौद्धिक वर्ग) का समूह 'E' (छात्र वर्ग) के मध्य सार्थकता एवं जागरूकता स्तर

	<i>Sum of Squares</i>	<i>df</i>	<i>Mean Square</i>	<i>F</i>	<i>Sig.</i>
Between Groups	1638.050	1	1638.050	13.460	0.002
Within Groups	2190.500	18	121.694		
Total	3828.550	19			

दोनों समूहों के मध्य सार्थकता 0.002 प्राप्त होने पर F परीक्षण तालिका का प्रयोग किया गया, उसके सार्थकता स्तर की जाँच करने पर सार्थकता स्तर 'सार्थक' पाया गया। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही वर्ग शिक्षा अधिकार अधिनियम के प्रति बराबर जागरूक हैं, अर्थात् अधिनियम के प्रति सकारात्मक विचार रखते हैं।

प्राप्त आंकड़ों के गुणात्मक विश्लेषण के उपरांत यह पाया गया कि ये विभिन्न समूह अधिनियम के क्रियान्वयन में निम्नलिखित प्रमुख बाधाएँ देखते हैं—

1. राज्यों का अपूर्ण सहयोग
2. अधिनियम के क्रियान्वयन की उचित व्यवस्था का अभाव
3. निजी विद्यालयों की सहभागिता पर संदेह
4. शिक्षकों का अभाव
5. बालकों के विद्यालय में प्रवेश की चुनौती
6. बालश्रम की समस्या
7. प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण की समस्या
8. विद्यालयों का अभाव
9. पाठ्यक्रम की एकरूपता एवं बस्तों के बोझ की समस्या
10. प्राथमिक विद्यालयों की दयनीय स्थिति
11. अपव्यय व अवरोधन की समस्या
12. अनुसूचित जाति एवं जनजाति क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालय स्थापित करने की समस्या
13. विकलांग एवं मंदबुद्धि बालकों के लिए उपयुक्त व्यवस्था की कमी
14. ईमानदारी तथा कर्तव्यनिष्ठा की कमी

यदि उपर्युक्त बाधाओं पर बिंदुवार सूक्ष्म चर्चा करें तो इस अधिनियम के क्रियान्वयन की बहुत सी चुनौतियाँ सामने आती हैं, जैसे—

राज्यों का सहयोग सर्वप्रथम हमारे देश का सबसे बड़ा राज्य उत्तर प्रदेश, जहाँ की मुख्यमंत्री ने, प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर इसे लागू करने में असमर्थता (पिछले वर्ष में भी प्रतिपूर्ति ना होने की धनराशि) जतायी है। (दैनिक जागरण 04.04.2010)

दूसरी बात आती है व्यवस्था की, भारत के सभी राज्यों में ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ दुर्गम जंगल और पहाड़ी इलाके इसके आड़े आते हैं। ऐसे स्थलों पर यदि अभिभावक किसी भी प्रकार बालक को विद्यालय भेज भी देते हैं तो इसकी कोई गारंटी नहीं है कि वहाँ शिक्षक भी उपलब्ध हो ही जाये। (क्योंकि शिक्षा एवं शिक्षक संबंधी अनेक जाँच समितियाँ यह इंगित कर चुकी हैं कि ऐसे विद्यालय शहरों में नियुक्ति पाये हजारों शिक्षकों के लिए मात्र मासिक पगार लेने का माध्यम बन चुके हैं।) एक सच्चाई और भी है, मिड-डे मील या दोपहर का भोजन बेशक काम-काज से थके बालकों को स्कूल की दहलीज तक खींच लाता हो, लेकिन वहाँ उन्हें स्वच्छ और सेहतमंद भोजन मिलने की गारंटी नहीं है। देशभर से मिड-डे मील के खराब होने और मात्रा में अनियमितता की खबरें मिलती रहती हैं। (शिक्षित भारत का सपना, इरा झा, सम्पादकीय दैनिक जागरण, 14.4.2010)

चौथा मुख्य बिंदु **शिक्षकों का अभाव** है अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा का अधिकार

अधिनियम लागू तो हो गया, लेकिन इसका पालन कराने में खासी मुश्किल हो सकती है। कारण किसी भी स्कूल में मानक के अनुरूप शिक्षक नहीं हैं। छात्रों के अनुपात में शिक्षकों की पूर्ति कराना सरकार के लिए चुनौती बन सकता है। एक रिपोर्ट के मुताबिक उत्तर प्रदेश के 182 प्राथमिक व 911 उच्च प्राथमिक स्कूलों में बालकों को पढ़ाने के लिए शिक्षक नहीं हैं। प्रदेश के 4,229 प्राथमिक व 8,884 उच्च प्राथमिक विद्यालयों में बालकों को पढ़ाने के लिए सिर्फ एक शिक्षक तैनात है। (शिक्षा का अधिकार कैसे हो बेड़ा पार, *दैनिक जागरण*, 19.05.2010) सूबे में बेसिक शिक्षा विभाग के शिक्षकों के 'नर्सरी' कहे जाने वाले जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (डायट) स्वयं संसाधनों की कमी का संकट झेल रहे हैं। इन संस्थानों में स्वीकृत पदों के सापेक्ष सिर्फ 40 फ्रीसदी पदों पर ही प्रशिक्षक तैनात हैं। डायट के जरिये प्रदेश में प्रत्येक वर्ष 10,650 शिक्षकों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था है जबकि हर साल 12,000 से 14,000 शिक्षक तो सेवानिवृत्त हो जाते हैं। (*हिन्दुस्तान*, इस आगाज़ को बेहतर अंजाम चाहिए, प्रमोद जोशी, 31.3.2010)

इसी कड़ी में अग्रिम कड़ी बालकों के **विद्यालय में प्रवेश** की चुनौती है। 6 से 14 वर्ष की उम्र के कुल 81 लाख बालकों के अभी तक स्कूल का मुँह न देखने की तस्वीर सामने आयी है। सर्वे बताता है कि उन बालकों में से 28 लाख (34 प्रतिशत) अकेले उत्तर प्रदेश में हैं। हालांकि राज्य सरकार के हिसाब से प्रदेश में सिर्फ 17 लाख

बालकों को ही विद्यालय मुहैया कराना बाकी है। नवीन शिक्षा अधिनियम के तहत सरकार के लिए इन बालकों का विद्यालय में प्रवेश कराना और उन्हें यहाँ बनाये रखना एक चुनौती ही है। (संपादकीय *दैनिक जागरण*, 31.05.2010)

देश के कुल निरक्षरों में से 22 प्रतिशत आबादी उत्तर प्रदेश में रहती है। वर्ष 2004 में राष्ट्रीय स्तर पर हुए सर्वे के मुताबिक देश में 100 में से 67 और उत्तर प्रदेश में 100 में से 61 लोग ही साक्षर हैं।

छठा बिंदु **बालश्रम** से संबंधित है। 'शिक्षा का अधिकार' कानून लागू हो चुका है। इस कानून के तहत 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देना सरकार की कानूनी ज़िम्मेदारी बना दी गई है, लेकिन शिक्षा का अधिकार कानून लागू होने के बाद भी वर्तमान में काफ़ी संख्या में बच्चे शिक्षा ग्रहण करने के बदले सड़कों पर कूड़ा बीनते घूम रहे हैं, या छोटे-छोटे ढाबों/होटलों में काम कर रहे हैं। देश का भविष्य कहे जाने वाले बच्चे अपना पेट भरने के लिए बाल्यावस्था में पढ़ाई करने के बदले कठिन श्रम करने को मजबूर हैं।

सातवां बिंदु-वर्तमान में **अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा** के सार्वभौमीकरण का अर्थ कुछ व्यापक रूप में लिया जाता है। हमारे देश में संविधान की धारा 45 में यह निर्देश है कि राज्य इस संविधान के लागू होने के समय से 10 वर्ष के अंदर 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों की अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था करेगा। परंतु अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा को सर्वसुलभ

बनाने का तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक यथा आयु वर्ग के शत-प्रतिशत बच्चे उसमें प्रवेश नहीं लेते और शत-प्रतिशत बच्चों के प्रवेश लेने का तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक शत-प्रतिशत बच्चे उसमें रुके नहीं रहते हैं, और शत-प्रतिशत रुके रहने का तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक शत-प्रतिशत बच्चे इस शिक्षा को पूरी नहीं करते, इसमें उत्तीर्ण नहीं होते ।

आठवां बिंदु—**अनिवार्य और निःशुल्क** शिक्षा प्रदान करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है 6-14 आयु वर्ग के सभी बच्चों को एक निश्चित दूरी के अंदर स्कूल उपलब्ध कराना। आज स्थिति यह है कि देश में बड़े-बड़े नगरों में स्वैच्छिक संस्थाओं और व्यक्तिगत प्रयासों से प्राथमिक विद्यालयों का जाल-सा बिछ गया है, परंतु अनुसूचित जाति की बस्ती में प्रायः सरकारी प्राथमिक विद्यालय ही दिखायी देते हैं और वो भी बहुत निचले स्तर के। अनुसूचित जनजातियों की पहाड़ी, रेगिस्तानी और जंगली बस्तियों में तो सरकार भी उचित संख्या में प्राथमिक विद्यालय उपलब्ध नहीं करा पा रही है। उत्तर प्रदेश में शिक्षा का उजियारा फैलाने के लिए 4,596 नवीन उच्च प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना करनी होगी। (दैनिक जागरण, 04.04.2010)

नवां बिंदु आता है **पाठ्यक्रम की एकरूपता** का। भारत देश में प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम की स्थिति यह है कि कुछ विद्यालयों में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा तैयार किया गया पाठ्यक्रम व पुस्तकें हैं तो कहीं प्रांतीय सरकारें अपने-अपने प्रकार का पाठ्यक्रम

तथा पाठ्यपुस्तकें चला रही हैं। साथ ही अन्य अतिरिक्त विषय यथा—कम्प्यूटर, पर्यावरण शिक्षा तथा अन्य भाषाओं का ज्ञान बालकों पर अनावश्यक बस्तों के बोझ को बढ़ावा देता है।

दसवां बिंदु एक तरह से आठवें में ही समाहित है क्योंकि **ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड** के अंतर्गत लगभग 80 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों और 40 प्रतिशत उच्च प्राथमिक विद्यालयों में कुछ सुधार अवश्य हुआ है परंतु अभी तक लगभग 10 प्रतिशत प्राथमिक विद्यालय बिना भवन के चल रहे हैं, लगभग 10 प्रतिशत विद्यालय कच्चे भवनों में चल रहे हैं, लगभग 20 प्रतिशत विद्यालयों के भवन बड़ी जीर्ण अवस्था में हैं, लगभग 2,000 प्राथमिक विद्यालयों में एक भी शिक्षक नहीं है, लगभग 20 प्रतिशत विद्यालय एक शिक्षकीय हैं, लगभग 20 प्रतिशत विद्यालयों में फर्नीचर व टाट-पट्टी नहीं हैं, लगभग 20 प्रतिशत विद्यालयों में ब्लैक बोर्ड नहीं हैं, लगभग 50 प्रतिशत विद्यालयों में पानी की व्यवस्था नहीं है, लगभग 25 प्रतिशत विद्यालयों में शौचालय नहीं है और शारीरिक शिक्षा और खेलकूद की व्यवस्था तो बहुत कम विद्यालयों में है।

ग्यारहवां बिंदु **अपव्यय व अवरोधन** से जुड़ा है। भारत में अपव्यय एवं अवरोधन की ओर सबसे पहले ध्यान प्राथमिक शिक्षा के संदर्भ में हर्टांग कमेटी, ने आकर्षित किया था। कोठारी आयोग के अनुसार प्राथमिक स्तर पर अपव्यय एवं अवरोधन के मुख्य कारण हैं—अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम का न होना, अभिभावकों का निर्धन एवं अशिक्षित होना, स्कूलों की दूरी अधिक होना, प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी होना, शिक्षण संस्थाओं

का साधन संपन्न न होना और उचित निरीक्षण की व्यवस्था न होना इत्यादि है। प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का लक्ष्य प्राप्त करने में अपव्यय एवं अवरोधन एक प्रमुख बाधा है। (*भारत में शिक्षा प्रणाली का विकास*, सी.एस. शुक्ला, 2006, पृष्ठ संख्या 191)

बारहवां बिंदु—**अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों** की बस्तियों में जो प्राथमिक विद्यालय हैं उनमें प्रायः बच्चे प्रवेश नहीं लेते, ऐसे विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या शनैः शनैः कम होती जा रही है और वह बंद होते जा रहे हैं।

कुछ अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के क्षेत्रों के विद्यालयों में शिक्षक/शिक्षिकाएं भी जाना पसंद नहीं करते। शिक्षकों के अभाव में छात्र/छात्राएं भी विद्यालय आना छोड़ देते हैं और कालांतर में ये विद्यालय भी बंद हो जाते हैं। अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा का अधिकार अधिनियम के क्रियान्वयन में अनुसूचित जाति एवं जनजाति क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालय स्थापित करना एक प्रमुख चुनौती है। (*भारत में शिक्षा प्रणाली का विकास*, सी. एस. शुक्ला, पृष्ठ संख्या 190)

तेरहवां बिंदु—**विकलांग बच्चों** को शिक्षा उपलब्ध कराने के संबंध में, यह अधिनियम मौन है। विकलांग बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने संबंधी अधिनियम में 'अक्षमता' की परिभाषा 'व्यक्त अक्षमता अधिनियम 1995' अनुसार मानी गई है, जो कि 'राष्ट्रीय न्यास अधिनियम 1999' द्वारा बताई गई 'अक्षमता' की परिभाषा की शर्तों को पूरा नहीं करती।

सबसे महत्वपूर्ण बिंदु चतुर्दश है। आज हमारे देश में किसी भी क्षेत्र की सबसे बड़ी समस्या है उस क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों का ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ न होना। प्राथमिक शिक्षा के कार्यक्षेत्र को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं— प्रशासनिक और शैक्षिक। यह बात दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि प्राथमिक शिक्षा के प्रशासन से जुड़े अधिकतर व्यक्तियों में ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा की कमी है। प्राथमिक विद्यालयों के भवन निर्माण, उनमें शिक्षकों की नियुक्ति, उनके लिए फर्नीचर एवं शिक्षण खेल-सामग्री की आपूर्ति और मिड-डे मील आदि की व्यवस्था प्रशासन द्वारा होती है। भवन-निर्माण और सामग्री के क्रय में भी भ्रष्टाचार का बोलबाला है। परिणामतः घटिया किस्म के भवन बनते हैं और घटिया किस्म की सामग्री क्रय की जाती है। अब तो शिक्षकों की नियुक्ति में भी पैसा चल रहा है। बहुत खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि अधिकतर प्रधानाचार्य, शिक्षक और अन्य कर्मचारी ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा से कोसों दूर हैं। सरकारी प्राथमिक विद्यालयों में तो आधे से अधिक विद्यालय ही नहीं जाते और जो जाते हैं उनमें से भी अधिकतर शिक्षण कार्य में रुचि नहीं लेते। कहने को इनके ऊपर पूरा नियन्त्रण तंत्र है पर अधिकतर व्यक्ति एक दूसरे के सहयोग से मौज ले रहे हैं। शिक्षक संघों के निर्माण से शिक्षकों की दशा में तो सुधार हुआ है परंतु शिक्षा में गिरावट आयी है। देश में हर जगह भ्रष्टाचार व्याप्त है। भ्रष्ट प्रशासन तंत्र से उच्च प्रशासन की

आशा कैसे की जा सकती है? अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा अधिनियम के लक्ष्य प्राप्त करने में यह समस्या प्रमुख बाधक तत्व है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

संपूर्ण घटकों का विश्लेषण करने के उपरांत बिंदुवार निष्कर्ष एवं सुझाव इस प्रकार हैं—

1. अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा अधिनियम के अंतर्गत निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराना राज्यों का दायित्व तय किया गया है। चूँकि शिक्षा समवर्ती सूची का विषय है इसलिए केंद्र सरकार और राज्य सरकार को तत्परता के साथ बच्चों की निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा के लिए संसाधनों की कमियों को पूर्ण करना चाहिए। राज्य सरकारों की शिक्षा अधिनियम के क्रियान्वयन में धन के अभाव की समस्या को दूर करने के लिए केंद्र सरकार शिक्षा के बजट में वृद्धि करे जिससे राज्य सभी को शिक्षा उपलब्ध करा सके और शिक्षा पर होने वाले व्यय 55:45 (यानि केंद्र सरकार का योगदान 55 प्रतिशत व राज्य सरकार का 45 प्रतिशत) को घटाकर 65:35 कर दे जिससे राज्यों पर आर्थिक बोझ अधिक न पड़े। राज्यों को भी बहाने न बनाकर सभी बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए प्रतिबद्ध होना चाहिए और अपने दायित्व निर्वाहन के लिए उचित नीतिगत ढाँचा तैयार करना चाहिए जिससे एक भी बच्चा शिक्षा से वंचित न रह पाये।

2. सभी बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाना चाहिए। इसके लिए प्रशासनिक स्तर पर अधिकारियों की जबाबदेही तय की जानी चाहिए, नवीन विद्यालयों की स्थापना कर उनमें पर्याप्त शिक्षकों की नियुक्ति की जानी चाहिए, विद्यालयों में आवश्यक संसाधनों की पूर्ति की जानी चाहिए। राज्य सरकारों को समय पर धन मुहैया कराकर धन के उपयोग की निगरानी होनी चाहिए जिससे धन शिक्षा के क्षेत्र में ही व्यय किया जाये। इस अधिनियम के अधीन आने वाले अधिकारियों, विद्यालय प्रबंधकों, शिक्षक-शिक्षिकाओं एवं अन्य जुड़े कर्मचारियों को सख्त निर्देश दिये जायें कि अपने कार्य में लापरवाही बरतने पर कठोर कार्यवाही के लिए तैयार रहें, जिससे उचित व्यवस्था का निर्माण होगा। अधिनियम को प्रभावी बनाने के लिए एक समुचित समयबद्ध कार्ययोजना तैयार करनी चाहिए जिससे इस अधिनियम का सकारात्मक परिणाम सामने आ सके।
3. राज्य सरकारों को प्राइवेट स्कूलों की मनमानी पर रोक लगानी चाहिए तथा उनकी कार्यप्रणाली पर पैनी नज़र रखनी चाहिये जिससे वह गरीब व वंचित वर्ग के बच्चों को अपने विद्यालयों में प्रवेश देने में आना कानी न करें और न ही किसी बच्चे से कैपिटेशन फीस लें क्योंकि निःशुल्क शिक्षा बच्चों का हक है इसलिए निजी विद्यालयों को भी गरीब एवं वंचित वर्ग के बच्चों को शिक्षित

- करने में पूरी ईमानदारी का परिचय देना चाहिए। जिससे वंचित वर्ग के बच्चे भी उच्च गुणवत्तायुक्त शिक्षा प्राप्त कर अपना भविष्य उज्ज्वल बना सकें।
4. शिक्षा का अधिकार अधिनियम के अनुसार प्राथमिक विद्यालय में शिक्षक-छात्र अनुपात 1:30 और पूर्व माध्यमिक विद्यालय में 1:35 होना चाहिए। इस कानून के अनुसार पूर्व माध्यमिक विद्यालयों में अंग्रेजी, गणित, विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के विशेषज्ञ अध्यापकों की नियुक्ति करना अनिवार्य है। इससे स्पष्ट है कि एक पूर्व माध्यमिक स्कूल में अनुपात के साथ ही कम-से-कम पाँच अध्यापक नियुक्त होना अनिवार्य हैं। उत्तर प्रदेश में इस महत्त्वकांक्षी कानून को अमली जामा पहनाने के लिए 3.25 लाख शिक्षक प्राथमिक विद्यालयों में, 67,000 शिक्षक उच्च प्राथमिक विद्यालयों में और 44,000 अंशकालिक शिक्षक उच्च प्राथमिक विद्यालयों में नियुक्त करने होंगे जो कि जितनी शीघ्र हो उतना ही अच्छा है क्योंकि शिक्षा का प्रचार-प्रसार योग्य शिक्षकों पर ही निर्भर करता है।
 5. प्राथमिक शिक्षा के लिए 6 से 14 आयु वर्ग के शत-प्रतिशत बच्चों के प्रवेश (नामांकन) के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सरकार अभिभावकों में जागरूकता उत्पन्न करे, विद्यालयों की स्थिति में सुधार करे, बच्चों के लिए पौष्टिक मिड-डे मील की व्यवस्था करे, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के बच्चों के साथ-साथ गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन करने वाले बच्चों को भी आर्थिक सहायता दी जाये। 1 कि.मी. की दूरी के अंदर ही प्राथमिक और 2.3 कि.मी. की दूरी के अंदर उच्च प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना की जाये जिससे बालक-बालिकाएँ आसानी से विद्यालय जा सकें। शिक्षकों की यह जिम्मेदारी निश्चित की जाये कि वे व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा अभिभावकों को अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए प्रेरित करें। इन सब प्रयत्नों से अवश्य ही बच्चों का विद्यालय में शत-प्रतिशत प्रवेश संभव हो सकेगा।
 6. बालश्रम एक अभिशाप है, देश में 6 से 14 वर्ष की आयु वर्ग के बच्चे बालश्रमिक के रूप में खतरनाक कारखानों तथा सार्वजनिक स्थलों इत्यादि में कार्यरत हैं। यह सभी को मालूम है कि बालश्रमिकों की स्थिति कितनी दयनीय है इन बालश्रमिकों को शिक्षा उपलब्ध कराने और इनके पुर्नवास के लिए सरकार को कारगर उपाय करने चाहिए जिससे ये बच्चे भी शिक्षित बन सभ्य समाज का हिस्सा बनकर सम्मान से जीवन व्यतीत कर सकें। उन अभिभावकों में भी जागरूकता लाने के लिए कार्यक्रम तैयार करने चाहिए जो अपने बच्चों को मजदूरी करने के लिए मजबूर करते हैं। उन्हें शिक्षा का महत्व बताकर अपने बच्चों को विद्यालय भेजने के लिए तैयार करें। इसमें स्वयंसेवी संस्थाओं का सहयोग भी लेना चाहिये। बालश्रमिकों के पुर्नवास के लिए जन जागरूकता अभियान चलाने चाहिए जिससे बालश्रम की प्रवृत्ति पर अंकुश लगे।

7. भारत में प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण के लिए भारत सरकार 6-14 आयु वर्ग के शत-प्रतिशत बच्चों को कक्षा 1 से कक्षा 8 तक की शिक्षा-सुविधा सुलभ कराये। इसके लिए अधिक-से-अधिक विद्यालयों का निर्माण कराना चाहिए, पुराने विद्यालयों की मरम्मत करानी चाहिये जिससे वहाँ उचित शिक्षण कार्य हो सके और योग्य शिक्षकों की उचित अनुपात में नियुक्ति की जाये जिससे शिक्षण प्रक्रिया बाधित न हो। 6 से 14 वर्ष के शत-प्रतिशत बच्चों का कक्षा 1 से 8 तक विद्यालयों में नामांकन (प्रवेश) अनिवार्य किया जाये और इसके लिए ज़रूरी कदम उठाये जायें। विद्यालय में प्रवेश पाये शत-प्रतिशत बच्चों को विद्यालयों में रोके रखना, उन्हें बीच में विद्यालय छोड़कर न जाने देने के लिए विद्यालयों को आकर्षक एवं उचित वातावरण युक्त बनाना जिससे बच्चे पढ़ने में भी आनंदानुभूति प्राप्त कर सकें और सभी बच्चों को कक्षा 8 तक की परीक्षा उत्तीर्ण कराने की व्यवस्था कर अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।
8. उत्तर प्रदेश में शिक्षा के अधिकार कानून लागू करने के लिए 4,596 नये प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण करना चाहिए। और विद्यालयों में अन्य आवश्यक सुविधाओं का विकास करना चाहिए जिससे निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा अधिनियम के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।
9. पाठ्यक्रम की एकरूपता के लिए सभी प्रांतों में प्राथमिक स्तर पर एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रस्तावित आधारभूत पाठ्यक्रम को लागू किया जाये। यह तभी संभव है जब पाठ्यक्रम में आवश्यक संशोधन किये जायें। तब प्राथमिक स्तर पर पाठ्यक्रम में एकरूपता आयेगी जिससे पाठ्यक्रम की असमानता से निजात मिलेगी तथा पाठ्यक्रम में से अनावश्यक पाठ्य-सामग्री को हटाकर बालकों के बस्तों का बोझ भी कम किया जा सकता है। प्राथमिक स्तर पर त्रिभाषा सूत्र के स्थान पर सिर्फ मातृभाषा (क्षेत्रीय भाषा) की शिक्षा अनिवार्य हो इससे बस्ते का बोझ काफी हद तक कम किया जा सकता है।
10. प्राथमिक विद्यालयों की दयनीय स्थिति में सुधार के लिए केंद्र एवं राज्य सरकारों को कुछ ठोस कदम उठाने आवश्यक हैं। केंद्र सरकार व राज्य सरकारें शिक्षा बजट में वृद्धि करें और प्राथमिक विद्यालयों की दशा सुधारने को प्राथमिकता दें। शिक्षा बजट का 50 प्रतिशत भाग प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया जाये। सरकारी प्राथमिक स्कूलों के स्थान पर सहायता-प्राप्त स्कूलों को बढ़ावा देना चाहिए और प्रशासनिक ढाँचे में आये भ्रष्टाचार को समाप्त किया जाना चाहिए इससे अवश्य ही प्राथमिक विद्यालयों की स्थिति में सुधार आयेगा।
11. प्राथमिक स्तर पर अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या के समाधान के लिए सर्वप्रथम अभिभावकों को जागरूक करना, विद्यालयों

की दशा सुधारना, निःशुल्क मध्याह्न भोजन की व्यवस्था करना, निर्धन छात्रों को पाठ्यपुस्तकें एवं यूनीफॉर्म वितरित करना, निरीक्षकों की संख्या में वृद्धि करना, पाठ्यक्रम को जीवनोपयोगी बनाना, विद्यालयों में मनोरंजन प्रधान वातावरण तैयार करना एवं योग्य एवं प्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति करने से अपव्यय एवं अवरोधन को काफी सीमा तक रोका जा सकता है जिससे शिक्षा अधिनियम के लक्ष्य को प्राप्त करने में सरलता होगी।

12. अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालय स्थापित करने के लिए सरकार को प्रयास तीव्र करने चाहिये और इन क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था को प्राथमिकता देनी चाहिए।

मलिन बस्तियों के प्रशिक्षित शिक्षकों को प्रोत्साहित किया जाये। उनके व्यक्तिगत प्रयास से स्थापित विद्यालयों को मान्यता देने में उदारता बरती जाये और उन्हें प्रथम वर्ष से ही सहायता अनुदान दिया जाये।

बच्चों को विद्यालयों में रोके रखने के लिए ठोस प्रयास किये जायें, उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया जाये।

ऐसे विद्यालयों में शिक्षक/शिक्षिकाओं को भी रोकने के लिए ठोस प्रयास किये जायें (जेंडर वाइज चयन इस दिशा में अधिक कारगर हो सकता है।)

अनुसूचित जाति एवं जनजातीय क्षेत्रों में विद्यालयों की स्थापना होने से इन वर्गों में

जागरूकता आयेगी जिससे इनका जीवन स्तर ऊपर उठ सकेगा।

13. इन विद्यालयों में धनी वर्ग के बच्चों से पूर्ण व्यय लिया जाये और निर्धन बालकों को निःशुल्क शिक्षा दी जाये।
14. अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा के अधिकार अधिनियम के क्रियान्वयन के लिए प्राथमिक शिक्षा स्तर पर शासन में बैठे व्यक्तियों को लोकतंत्र का सही अर्थ समझना होगा। उन्हें किसी व्यक्ति विशेष अथवा जाति विशेष के हित में न सोचकर राष्ट्रहित में सोचना चाहिए और राष्ट्रहित इसमें है कि सभी व्यक्ति अपने अधिकारों के साथ अपने कर्तव्यों को पहचानें और उनका पालन करें। किसी भी राष्ट्र के चारित्रिक पतन का मूल कारण मूल्यों का हास होता है। अतः आवश्यक है कि प्रारंभ से ही बालकों में सामाजिक, नैतिक, एवं राष्ट्रीय मूल्यों का विकास किया जाये। सामाजिक, नैतिक एवं राष्ट्रीय मूल्यों का व्यक्ति न बेईमान हो सकता है और न कर्तव्यविमुख। यदि सभी लोग ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा से कार्य करें तो कम साधनों से भी उपलब्धि प्राप्त की जा सकती है।

अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा का अधिकार अधिनियम शिक्षा के क्षेत्र में उठाया गया सराहनीय कदम है। शिक्षा से वंचित बालकों को शिक्षित करना सभी लोकतंत्रीय सरकारों का दायित्व है। अधिनियम के अधीन बच्चों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए राष्ट्रीय व राज्य आयोग को भी विस्तृत अधिकार प्रदान किये गये हैं।

बच्चों की शिक्षा संबंधी किसी भी शिकायत के लिए अधिकारितायुक्त स्थानीय प्राधिकरण की व्यवस्था की गयी है। बच्चों के व्यक्तित्व विकास के लिए प्राथमिक शिक्षा की जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका है। सभी बच्चों को शत-प्रतिशत शिक्षा उपलब्ध कराने के लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त करने के लिए संक्षेप में सुझाव इस प्रकार हैं—

1. प्राथमिक शिक्षा की सुविधाओं में और विस्तार किया जाये।
2. अनुसूचित जाति एवं जनजातीय और पिछड़े हुये क्षेत्रों में शिक्षा के प्रसार की ओर विशेष ध्यान दिया जाये।
3. छोटी बस्तियों में भी पाठशालाओं की सुविधा उपलब्ध कराई जाये।
4. बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाये।
5. निर्धन बच्चों को आर्थिक सहायता प्रदान की जाय, उन्हें निःशुल्क कपड़े एवं पुस्तकें दी जाये।
6. उपस्थिति छात्रवृत्तियां प्रारम्भ की जायें ताकि बच्चे पाठशालाओं में उपस्थित रहने के लिए आकर्षित हों।
7. निःशुल्क दूध और मध्याह्न भोजन की व्यवस्था की जाये।
8. महिला अध्यापकों की अधिक-से-अधिक नियुक्ति पर ध्यान दिया जाये। इससे अभिभावकों को अपनी लड़कियों को पाठशाला भेजने में प्रोत्साहन मिलेगा।
9. शिक्षा के प्रसार के लिए जिलेवार योजना तैयार की जाये ताकि पिछड़े क्षेत्रों पर ध्यान दिया जा सके।
10. अनिवार्य शिक्षा कानून को प्रत्येक राज्य में दृढ़तापूर्वक लागू किया जाये। कानून भंग करने वालों के विरुद्ध कार्यवाई की जानी चाहिए।
11. शैक्षिक अपव्यय को कम करने के उपाय अपनाये जाने चाहिए।
12. पाठशाला वातावरण को आकर्षक बनाया जाये जिससे बच्चे पाठशाला की ओर आकर्षित हों। पाठशाला में खेल-कूद की उचित व्यवस्था की जाये।
13. अभिभावकों को शिक्षा के महत्व के बारे में निरन्तर सजग किया जाये। स्थानीय समुदाय को इस क्षेत्र में सहयोग देने हेतु आमंत्रित किया जाना चाहिए।
14. प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किये जाने वाले बजट में वृद्धि की जाये।
15. विकलांग बच्चों के लिए शिक्षा की विशेष व्यवस्था की जाये।
16. पढ़ाई में कमजोर बच्चों के लिए अतिरिक्त शिक्षण-व्यवस्था की जाये।
17. प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षकों की कमी को पूरा किया जाये।
18. निजी विद्यालयों पर नियंत्रण रखा जाये।
19. बालश्रमिकों के पुनर्वास एवं शिक्षा की व्यवस्था की जाये।
20. नये विद्यालयों की आवश्यक स्थानों पर स्थापना की जाये।
21. पाठ्यचर्या संपूर्ण देश में एक समान रखी जाये और बच्चों पर से बस्तों के बोझ को कम किया जाये।

उपर्युक्त सुझावों के प्रभावी क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए एक समुचित समयबद्ध कार्ययोजना तैयार की जानी चाहिए जिससे शिक्षा अधिनियम का सकारात्मक परिणाम अतिशीघ्र आ सके। इस मुफ्त एवं मौलिक शिक्षा के अधिकार से अभी भी बहुत कुछ सुधार हो सकता है यदि उस क्षेत्र में रह रहे-पूँजीपतियों, अधिकारियों एवं नेताओं

के बालकों की पढ़ाई भी उन्हीं स्कूलों में अनिवार्य रूप से हो। इससे स्कूलों का स्तर अपने आप दुरुस्त हो जायेगा। सही प्रकार से इस अधिनियम के क्रियान्वयन के लिए उत्तम विकल्प तो यह है कि शिक्षा समान एवं अनिवार्य होनी चाहिए। तभी अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा अधिनियम के वांछित लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

संदर्भ

- इंडिया टुडे, मई, 2010
- प्रतियोगिता दर्पण, मई, 2010/1827/ अनिवार्य शिक्षा अधिनियम . 2009
- दैनिक जागरण, (1.04.2010 से 28.5.2010), अमर उजाला, हिन्दुस्तान, हिन्दी दैनिक के समाचार पत्र
- शुक्ला, सी.एस.ए., 2006, भारत में शिक्षा प्रणाली का विकास, इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ

माध्यमिक स्तर पर छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा व उनके माता-पिता की तत्संबंधी आकांक्षा तथा व्यावसायिक आकांक्षा पुनर्निर्धारण का अध्ययन

ममता बाकलीवाल*

स्पष्ट है कि व्यावसायिक क्षेत्र में राष्ट्रीय स्तर पर इस नव चिंतन पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है कि माध्यमिक स्तर पर ही छात्राओं को व्यावसायिक क्षेत्र संबंधी कौशलों के प्रति उन्मुख किया जाए। 15-16 वर्ष की किशोरावस्था में व्यावसायिक आकांक्षाएँ जन्म लेती हैं और उन्हीं के आधार पर व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की रचना की जानी चाहिए तभी वह स्वीकार्य होगा। आज शिक्षा को सैद्धांतिक पाठ्यक्रमों के साथ-साथ मजबूत व्यावसायिक आधार प्रदान करने की नितांत आवश्यकता है। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षाओं के संदर्भ में यह अध्ययन किया गया है। ग्रामीण, प्रशासनिक, औद्योगिक, व्यापारिक परिवेश से चयनित कक्षा दसवीं की 394 तथा ग्यारहवीं की 355 छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षाओं तथा उनके माता-पिता की तत्संबंधी व्यावसायिक आकांक्षाओं के अध्ययन में पाया गया कि ग्रामीण परिवेश की सर्वाधिक छात्राओं ने शिक्षण क्षेत्र को पसंद किया जबकि प्रशासनिक परिवेश की छात्राओं ने इंजीनियरिंग व व्यापार क्षेत्र को बिल्कुल पसंद नहीं किया। व्यापारिक, शासकीय, औद्योगिक परिवेश की छात्राओं ने मेडिकल क्षेत्र से संदर्भित व्यावसायिक आकांक्षा व्यक्त की।

प्राक्कथन

आधुनिक भारतीय शिक्षा में दो मूलभूत चिंता के विषय रहे हैं—प्रथम, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का

प्रभावी लोकव्यापीकरण, और द्वितीय, माध्यमिक शिक्षा का प्रभावी व्यावसायिक उन्मुखीकरण। इनमें पहली चिंता संवैधानिक है अतः उस दिशा में

* रीडर, शिक्षा संकाय, राजीव गांधी महाविद्यालय, भोपाल, म.प्र.

प्रयत्न अधिक हुए। इसके विपरीत दूसरी चिन्ता का संबंध शिक्षित वर्ग की मानसिकता से है जो परंपरा से व्यावसायिक कार्यों को बौद्धिक कार्यों के समतुल्य नहीं मानते। हन्टर कमीशन (1882) ने व्यावसायिक शिक्षा के महत्व को समझकर सर्वप्रथम हाईस्कूल के पाठ्यक्रम में व्यावसायिक शिक्षा को स्थान दिया। कमीशन ने पाठ्यक्रमों के विविधीकरण के लिए अकादमी (अ-कोर्स) और व्यावसायिक (ब-कोर्स) धाराओं का प्रस्ताव रखा।

कोठारी आयोग (1964-66) ने व्यावसायिक शिक्षा की उत्कृष्ट व्यवस्था को आवश्यक बताते हुए कहा कि उच्चतर माध्यमिक स्तर पर तथा विद्यालयी शिक्षा पूरी करने वाले छात्रों को व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए विभिन्न पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जाए। पाठ्यक्रम विभिन्नीकरण विद्यार्थियों की रुचियों, आकांक्षाओं आदि मनोवैज्ञानिक विशेषताओं तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं के साथ-साथ आजीविका संबंधी आवश्यकताओं के भी अनुरूप होना चाहिए। कोठारी आयोग के इस मत (उच्चतर माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रमों का विभिन्नीकरण) की पुष्टि विमलेश गौतम (1989) का शोध अध्ययन करता है।

मूल समस्या वास्तव में व्यावसायिक शिक्षा की स्वीकार्यता और विश्वसनीयता की है। संशोधित कार्य योजना (1992) ने इस लक्ष्य को पूरी गंभीरता से रेखांकित किया है। सर्वप्रथम कार्यक्रमों की विश्वसनीयता स्थापित की जानी चाहिए जो उसकी गुणवत्ता, उपयुक्तता और स्वीकार्यता पर निर्भर होगी। (अनु. 10.03.04)

उपर्युक्त संदर्भ में कार्ययोजना ने माध्यमिक स्तर (कक्षा नवीं व दसवीं) पर पूर्व व्यावसायिक शिक्षा प्रस्तावित की है जिसके चतुर्विध उद्देश्य हैं—

- (क) सरल, उपयोगी, कौशल सीखना।
- (ख) व्यावसायिक रुचियों और वरीयताओं का विकास।
- (ग) कार्य में प्रतिभागिता की तैयारी।
- (घ) कार्य संस्कृति के उपयुक्त मूल्यों का विकास।

व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में एक प्रमुख समस्या छात्रों की प्रतिभागिता है। संशोधित कार्य योजना ने इस बात पर बल दिया है कि अपरंपरागत और नई प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में लड़कियों की प्रतिभागिता को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया जाए।

आवश्यकता व महत्व

विगत वर्षों में हुए अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ कि व्यावसायिक चिंतन लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में कम है। यह पाया गया है कि वे ही लड़कियाँ कार्य जगत में अधिक प्रवेश कर रही हैं जिनकी माँ नौकरी करती हैं या स्वयं का व्यवसाय करती हैं। जिन घरों का वातावरण व्यावसायिक नहीं है, वे लड़कियाँ आगे बढ़ने में कई अड़चनें, जैसे सामाजिक व वैयक्तिक, महसूस करती हैं।

जैन (1995) ने अपने शोध अध्ययन में पाया कि व्यावसायिक चयन एक प्रक्रिया है न कि घटना। व्यावसायिक चुनाव किसी भी व्यक्ति के व्यवहार विकास का एक अंग मात्र नहीं है बल्कि यह उसके संपूर्ण विकास प्रक्रिया का एक हिस्सा है। क्राइट्स (1969) के अनुसार, 'विकासात्मक दृष्टि से व्यावसायिक चयन व्यक्ति का एक अकेला कार्य

नहीं है, बल्कि यह व्यापक बहुआयामी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति के जीवन के विभिन्न बिंदुओं पर व्यक्ति के विभिन्न व्यवहार सम्मिलित होते हैं।'

किशोरावस्था अपरिमित उत्साह, अस्थिर निर्णयों की अवस्था है। इस उम्र में व्यावसायिक चुनाव वास्तविक होता है। फिलिप्स (1956) कहते हैं कि 'ऐसा चुनाव नहीं करना चाहिए जो कि उनकी व्यापारिक समस्याओं के विचार-विमर्श के आधार से अलग हो। यह जानना महत्वपूर्ण है कि आकांक्षाएँ वर्णित वास्तविकताओं की ओर ले जाती हैं कि नहीं।' स्टीफेंसन (1957) ने एक हजार नवीं कक्षा के विद्यार्थियों के व्यावसायिक चुनावों का अध्ययन किया और परिणाम निकाला कि व्यावसायिक आकांक्षाएँ वास्तविक नहीं पाई जाती हैं।

क्राइट्स (1969) के अनुसार, व्यावसायिक चुनाव में प्रथम चरण आकांक्षा का है जिसका वास्तविकता से कोई वास्ता नहीं है। व्यावसायिक आकांक्षा, प्राथमिकता और चुनाव समान सततता पर समझे जाते हैं। व्यावसायिक चुनाव की प्रक्रिया आकांक्षा और चुनाव अपरिमापीय सततता के किसी एक ओर होता है।

आकांक्षा.....प्राथमिकता.....चुनाव

व्यक्ति के जीवन निर्माण में व्यावसायिक आकांक्षाओं का विशेष महत्व होता है। इस उद्देश्य से माता-पिता की पुत्री के लिए आकांक्षा और पुत्री की अपनी व्यावसायिक आकांक्षा के बीच सामंजस्य का मूल्यांकन करना उचित समझा गया। यह अध्ययन छात्राओं और उनके माता-पिता की व्यावसायिक आकांक्षाओं तक सीमित है।

उद्देश्य

- छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा और उनके माता-पिता की आकांक्षा में परस्पर संबंध का विश्लेषण करना।
- विभिन्न परिवेशों की छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षाओं का विश्लेषण करना।
- छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा क्षेत्र तथा व्यावसायिक आकांक्षा स्तर, उनके परिवेश से संबंध का विश्लेषण करना।
- छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा स्तर उनके माता-पिता व्यावसायिक स्तर तथा शिक्षा स्तर संबंध का विश्लेषण करना।
- छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा पुनर्निर्धारण तथा उनके पाठ्यक्रम से संबंध का विश्लेषण करना।
- छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा पुनर्निर्धारण तथा उनके परिवेश से संबंध का विश्लेषण करना।

चर

क. आश्रित चर

1. व्यावसायिक आकांक्षा
2. व्यावसायिक आकांक्षा क्षेत्र
3. व्यावसायिक आकांक्षा स्तर
4. व्यावसायिक आकांक्षा पुनर्निर्धारण

ख. मुक्त चर

1. मातृ-पितृ आकांक्षा
2. मातृ-पितृ शिक्षा स्तर
3. मातृ-पितृ व्यावसायिक स्तर

4. परिवेश
5. पाठ्यक्रम

परिकल्पनाएँ

1. छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा उनके माता-पिता की तत्संबंधी आकांक्षा से संबंधित नहीं है।
2. छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा तथा उनके माता-पिता की आकांक्षा का संबंध हर परिवेश में समान है।
3. परिवेश की भिन्नता के आधार पर छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा के क्षेत्र प्रभावित नहीं होते।
4. छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा स्तर उनके परिवेश से प्रभावित नहीं होते।
5. छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा स्तर उनके माता के शिक्षा स्तर से प्रभावित नहीं होती।
6. छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा स्तर पिता के शिक्षा स्तर से प्रभावित नहीं होती।
7. छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा स्तर माता के व्यावसायिक स्तर से प्रभावित नहीं होती।
8. छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा स्तर पिता के व्यावसायिक स्तर से प्रभावित नहीं होती।
9. उच्चतर माध्यमिक कक्षा में प्रवेश के बाद छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षाओं में परिवर्तन नहीं होता।
10. उच्चतर माध्यमिक कक्षा में प्रवेश के बाद छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षाएँ हर परिवेश से समान हैं।

प्रतिदर्श विधि

यादृच्छिक स्तरित विधि द्वारा कक्षा इकाई संकुल (उपस्थित छात्राएँ) विधि का उपयोग किया गया।

न्यादर्श

प्रस्तुत समस्या अध्ययन में कक्षा दसवीं की छात्राओं का चयन किया गया क्योंकि कक्षा दसवीं तक सभी विद्यार्थियों के लिए समस्त विषयों का अध्ययन अनिवार्य होता है, किंतु कक्षा ग्यारहवीं से विषयों का विभिन्नीकरण हो जाता है और छात्र अपनी रुचि के अनुसार विषय चयनित करते हैं। इसलिए कक्षा ग्यारहवीं की छात्राओं (कक्षा दसवीं वाली छात्राएँ) का चयन किया गया। अतः सारिणी 1 में न्यादर्श को दर्शाया गया है।

सारिणी 1

प्रतिदर्श आकार

क्र. सं.	क्षेत्र	छात्राएँ	
		X	XI
1	व्यावसायिक	93	90
2	औद्योगिक	97	93
3	शासकीय	102	95
4	ग्रामीण	102	77
	कुल योग	394	355

उपकरण

1. शोधार्थी द्वारा निर्मित निजी एवं पारिवारिक आकांक्षा प्रपत्र
2. एस.एस. चढ्ढा कृत 'व्यावसायिक आकांक्षा प्रपत्र' तथा 'व्यावसायिक आकांक्षा वर्गीकरण'

का शोधार्थी द्वारा संशोधित रूप का उपयोग किया गया।

आँकड़ों का विश्लेषण व निष्कर्ष

(I) *व्यावसायिक आकांक्षा स्रोत-*

(क) छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा उनके माता-पिता की तत्संबंधी आकांक्षा से संबंधित नहीं है।

सारिणी 2

व्यावसायिक आकांक्षा तथा मातृ-पितृ आकांक्षा स्रोत

व्यावसायिक आकांक्षा	आवृत्ति
छात्र ॥ माता ॥ पिता	180
छात्रा ॥ माता-पिता	30
छात्र ॥ पिता-माता	43
छात्रा-माता ॥ पिता	91
छात्र, माता, पिता	50
कुल	394

मुक्तांश 4, सं. = 0.01, काई वर्ग = 188.52

सारिणी 2 में दिए आंकड़ों से स्पष्ट है कि 394 के प्रतिदर्श में 180 छात्राओं की आकांक्षा माता-पिता की आकांक्षा से भिन्न नहीं थी जबकि 91 छात्राओं की आकांक्षा माता-पिता की आकांक्षा से भिन्न थी। 123 छात्राओं की स्थिति में माता और पिता की आकांक्षाओं में भिन्नता थी, इनमें 30 छात्राएँ माता से सहमत पाई गई, 43 छात्राएँ पिता से सहमत रहीं और 50 छात्राओं ने माता-पिता दोनों से असहमत भिन्नाकांक्षा व्यक्त की।

सांख्यिकीय विश्लेषण के लिए दो स्थितियाँ स्पष्ट दिखाई दीं (अ) माता-पिता की समानाकांक्षा तथा माता-पिता की भिन्नाकांक्षाएँ।

(ख) छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा तथा उनके माता-पिता की आकांक्षा का संबंध हर परिवेश में समान है।

सारिणी 3

परिवेश के आधार पर व्यावसायिक आकांक्षा का काई वर्ग विश्लेषण

क्र. सं.	माता-पिता से समान आकांक्षा स्रोत	ग्रामीण परिवेश	औद्योगिक परिवेश	व्यापारिक परिवेश	शासकीय परिवेश	कुल
1	समान आकांक्षा	35	39	55	51	180
2	भिन्न आकांक्षा	28	26	19	18	91
	I	63	65	74	69	271
	माता-पिता की भिन्न आकांक्षाएँ					
1	माँ के समान	13	3	7	7	30
2	पिता के समान	11	13	3	16	43
3	दोनों से भिन्न	15	16	9	10	50
	II	39	32	19	33	123
	कुल योग	102	97	93	102	394

काई वर्ग = 27.31 (मुक्तांश 12, 0.01 स्तर पर अभीष्ट 26.21)

उपर्युक्त सारिणी 3 से स्पष्ट है कि काई वर्ग का परिकल्पित मान 27.31 है जो 0.01 स्तर पर अभीष्ट मान 26.21 से अधिक है अर्थात् विभिन्न परिवेश की छात्राओं और उनके माता-पिता की व्यावसायिक आकांक्षाओं में अंतर सार्थक है। अतः शून्य परिकल्पना अस्वीकार की जाती है।

ग्रामीण और औद्योगिक परिवेश में छात्र व माता से भिन्न पिता व्यावसायिक आकांक्षाएँ 8 प्रतिशत, माता-पिता से पृथक् छात्र व्यावसायिक आकांक्षाएँ 27 प्रतिशत, तीनों की पृथक-पृथक व्यावसायिक आकांक्षाएँ 15 प्रतिशत हैं जबकि व्यापारिक और शासकीय परिवेश में अधिकांशतः

54 प्रतिशत छात्रा, माता-पिता तीनों में समान व्यावसायिक आकांक्षाएँ पायी गई।

विश्लेषण से स्पष्ट है कि ग्रामीण और औद्योगिक परिवेश में तीनों की (छात्रा, माता और पिता) व्यावसायिक आकांक्षाओं की समानता व भिन्नता लगभग समान है। कहा जा सकता है कि ग्रामीण लोग औद्योगिक परिवेश में आकर वहाँ के कार्य को करते हैं।

(II) व्यावसायिक आकांक्षा क्षेत्र

(क) परिवेश की भिन्नता के आधार पर छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा क्षेत्र प्रभावित नहीं होते।

सारिणी 4 से स्पष्ट है कि काई वर्ग का परिकलित मान = 158.18 है जो .01 स्तर पर अभीष्ट मान 38.93 से अधिक है अतः चारों परिवेश की छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा क्षेत्रों में अंतर सार्थक होने पर शून्य परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है।

(III) व्यावसायिक आकांक्षा स्तर

(क) छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा स्तर उनके परिवेश से प्रभावित नहीं होती।

सारिणी 5 से स्पष्ट है कि काई वर्ग का परिकलित मान = 95.67 है जो 0.01 स्तर पर अभीष्ट मान 11.34 से अधिक है अर्थात् विभिन्न

सारिणी 4

परिवेश की भिन्नता के आधार पर व्यावसायिक आकांक्षा क्षेत्र का काई वर्ग विश्लेषण

व्यावसायिक आकांक्षा क्षेत्र	परिवेश			
	ग्रामीण	व्यापारिक	शासकीय	औद्योगिक
	(102)	(93)	(102)	(97)
इंजीनियर	0	5	20	11
मेडिकल	9	32	36	28
शिक्षण	59	13	23	12
प्रशासनिक	0	27	8	16
व्यापार	0	1	0	6
नौकरी	11	4	6	17
कला	15	3	3	1
रक्षा	8	8	6	6
काई वर्ग = 158.18 (मुक्तांश 21, 0.01 स्तर पर अभीष्ट 38.93)				

सारिणी 5
परिवेशीय आधार पर छात्राओं का व्यावसायिक आकांक्षा स्तर का काई वर्ग विश्लेषण

व्यावसायिक आकांक्षा स्तर	परिवेश				
	ग्रामीण	व्यापारिक	शासकीय	औद्योगिक	योग
उच्च	0	6	0	9	15
मध्यम	15	59	72	60	206
उच्च मध्यम	15	65	72	69	221
निम्न	87	28	30	28	173
कुल योग	102	93	102	97	394
काई वर्ग = 95.67 (मुक्तांश 3, 0.01 स्तर पर अभीष्ट 11.34)					

परिवेश की छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा स्तर में अंतर सार्थक है अतः परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है।

- (i) ग्रामीण आकांक्षा 85% निम्नस्तरीय एवं 15% मध्यमस्तरीय है।
- (ii) व्यापारिक, शासकीय, औद्योगिक अर्थात् शहरी आकांक्षा लगभग 70% मध्यमस्तरीय एवं 30% निम्नस्तरीय है। उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि आकांक्षा विस्फोट शहर का

लक्षण है। गांव में अभी भी दो वक्त की रोटी से संतोष की मनोवृत्ति है।

- (ख) छात्राओं का व्यावसायिक आकांक्षा स्तर उनके माता के शिक्षा स्तर से प्रभावित नहीं होता।

सारिणी 6 से स्पष्ट है कि काई वर्ग का परिकल्पित मान = 63.16 है जो 0.01 स्तर पर अभीष्ट मान 16.81 से अधिक है, अर्थात् 0.01 स्तर पर अंतर सार्थक है। माँ के शिक्षा स्तर का

सारिणी 6
माँ के शिक्षा स्तर के संदर्भ में छात्राओं का व्यावसायिक आकांक्षा स्तर का काई वर्ग का विश्लेषण

व्यावसायिक आकांक्षा स्तर	परिवेश				
	ग्रामीण	व्यापारिक	शासकीय	औद्योगिक	योग
उच्च	0	1	5	9	15
मध्यम	17	42	87	60	206
निम्न	60	43	50	20	173
कुल योग	77	86	142	89	394
काई वर्ग = 63.16 (मुक्तांश 6, 0.01 स्तर पर अभीष्ट 16.81)					

छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षाओं पर प्रभाव पड़ता है। अतः शून्य परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है।

- (i) अशिक्षित माँ की छात्राओं ने 78% निम्नस्तरीय एवं 22% मध्यमस्तरीय व्यवसायों की आकांक्षा व्यक्त की।
- (ii) प्राथमिक शिक्षा स्तर वाली माँ की छात्राओं ने 99% मध्यम व 1% निम्नस्तरीय व्यवसायों की इच्छा की।
- (iii) माध्यमिक शिक्षा स्तर वाली माँ की छात्राओं ने 61% मध्यमस्तरीय, 35% निम्नस्तरीय व्यवसायों की आकांक्षा व्यक्त की।
- (iv) उच्च शिक्षित माँ की छात्राओं ने 67% मध्यमस्तरीय व 22% निम्नस्तरीय व्यवसायों की आकांक्षा व्यक्त की।

विश्लेषण से स्पष्ट है कि माँ के बढ़ते शिक्षा स्तर के अनुसार उच्च, मध्यम स्तरीय आकांक्षा में वृद्धि और

निम्न स्तरीय व्यवसायों की आकांक्षा में कमी हुई है।

- (ग) छात्राओं का व्यावसायिक आकांक्षा स्तर उनके पिता के शिक्षा स्तर से प्रभावित नहीं होता।

सारिणी 7 से स्पष्ट है कि कोई वर्ग का परिकल्पित मान = 26.34 है जो 0.01 स्तर पर अभीष्ट मान 16.81 से अधिक है अर्थात् 0.01 स्तर पर अंतर सार्थक है। पिता के शिक्षा स्तर का छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षाओं पर प्रभाव पड़ता है। अतः शून्य परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है।

- (i) अशिक्षित पिता की छात्राओं ने 62% निम्नस्तरीय एवं 37% मध्यम स्तरीय व्यवसायों की आकांक्षा व्यक्त की।
- (ii) प्राथमिक स्तर तक शिक्षित पिता की छात्राओं ने निम्नस्तरीय 67% व मध्यमस्तरीय 33% व्यवसायों की आकांक्षा व्यक्त की।

सारिणी 7

पिता के शिक्षा स्तर के संदर्भ में छात्राओं का व्यावसायिक आकांक्षा स्तर का कोई वर्ग विश्लेषण

व्यावसायिक आकांक्षा स्तर	शिक्षा स्तर				
	अशिक्षित	प्राथमिक	माध्यमिक	उच्च	योग
उच्च	0	0	3	12	15
मध्यम	6	17	67	116	206
निम्न	10	35	67	61	173
कुल योग	16	52	137	189	394
कोई वर्ग = 26.34 (मुक्तांश 6, .01 स्तर पर अभीष्ट 16.81)					

- (iii) माध्यमिक स्तर तक शिक्षित पिता की छात्राओं ने 49% निम्नस्तरीय व 49% मध्यम स्तरीय व्यवसायों की आकांक्षा व्यक्त की।
 विश्लेषण से स्पष्ट है कि पिता के बढ़ते शिक्षा स्तर के साथ छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षा स्तर में वृद्धि व निम्नस्तरीय व्यवसायों के आकांक्षा स्तर में कमी हुई। अशिक्षित व प्राथमिक शिक्षा स्तर वाले पिता के छात्राओं में उच्चाकांक्षा बिल्कुल नहीं पायी गई।
- (घ) छात्राओं का व्यावसायिक आकांक्षा स्तर उनके माता के व्यवसाय स्तर से प्रभावित नहीं होता।
 सारिणी 8 से स्पष्ट है कि कोई वर्ग का परिकलित मान = 5.29 है जो 0.01 स्तर पर अभीष्ट मान 9.21 से कम है। अतः 0.01 स्तर पर अंतर सार्थक नहीं है। अर्थात् माँ के व्यावसायिक स्तर का प्रभाव छात्राओं के व्यावसायिक आकांक्षा स्तर पर नहीं पड़ता है, परिकल्पना स्वीकार की जाती है।
- (i) कामकाजी महिलाओं की छात्राओं में 55% निम्नस्तरीय एवं 44% मध्यमस्तरीय व्यावसायिक आकांक्षा पाई गई, जबकि गृहिणी महिलाओं की छात्राओं में 41% निम्नस्तरीय व 54% मध्यमस्तरीय आकांक्षा पायी गई।
- (ii) अध्ययन में कामकाजी महिलाओं की अपेक्षा गृहिणियों की छात्राओं में व्यावसायिक आकांक्षा थोड़ी अधिक 4% पायी गई।
- (ङ) छात्राओं के व्यावसायिक आकांक्षा स्तर उनके पिता के व्यवसाय स्तर से प्रभावित नहीं होते हैं।
 सारिणी 9 से स्पष्ट है कि कोई वर्ग का परिकलित मान = 11.61 है जो 0.01 स्तर पर अभीष्ट मान 9.21 से अधिक है अतः 0.01 स्तर पर अंतर सार्थक होने पर शून्य परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है।

सारिणी 8
 माँ के व्यावसायिक स्तर के संदर्भ में छात्राओं का व्यावसायिक आकांक्षा स्तर का कोई वर्ग विश्लेषण

व्यावसायिक आकांक्षा स्तर	कामकाजी			व्यावसायिक स्तर		
	उच्च	मध्यम	निम्न	कामकाजी	गृहिणी	योग
उच्च	0	0	1	1	14	15
मध्यम	0	7	29	36	170	206
निम्न	0	0	45	45	128	173
कुल योग				82	312	394
कोई वर्ग = 5.29 (मुक्तांश 2, .01 स्तर पर अभीष्ट 9.21)						

सारिणी 9
पिता के व्यावसायिक स्तर के संदर्भ में छात्राओं का
व्यावसायिक आकांक्षा स्तर का काई वर्ग विश्लेषण

व्यावसायिक आकांक्षा स्तर	व्यावसायिक स्तर						योग
	उच्च	मध्यम	निम्न	आकस्मिक	उच्च मध्यम	निम्न आकस्मिक	
उच्च	1	6	8	0	7	8	15
मध्यम	8	43	151	4	51	155	206
निम्न	1	23	142	7	24	149	173
कुल योग					82	312	394
काई वर्ग = 11.61 (मुक्तांश 2, .01 स्तर पर अभीष्ट 9.21)							

- (i) उच्च मध्यम व्यावसायिक स्तर वाले पिताओं की छात्राओं ने 61% मध्यमस्तरीय और 29% निम्नस्तरीय व्यवसायों की आकांक्षा व्यक्त की।
- (ii) निम्न आकस्मिक व्यावसायिक स्तर वाले पिता की छात्राओं ने मध्यम व निम्न स्तरीय व्यवसायों की आकांक्षा लगभग समान 97% की।
- (iii) विशेषतः कहा जा सकता है कि दोनों व्यावसायिक स्तर वाले पिता की छात्राओं में उच्च व्यावसायिक आकांक्षा लगभग समान पायी गई। यद्यपि यह अल्पतम (4%) है।
- (च) व्यावसायिक आकांक्षा पुनर्निर्धारण
- (i) उच्चतर माध्यमिक कक्षा में प्रवेश के बाद छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षाओं में परिवर्तन नहीं होता।

सारिणी 10 से स्पष्ट होता है कि काई वर्ग का परिकलित मान 35.56 है जो 0.01 स्तर पर अभीष्ट मान 6.64 से अधिक है। अतः 0.01

स्तर पर अंतर सार्थक होने पर शून्य परिकल्पना अस्वीकृत हो जाती है।

सारिणी 10
परिवर्तित व अपरिवर्तित व्यावसायिक
आकांक्षाओं का काई वर्ग विश्लेषण

व्यावसायिक आकांक्षाएं	योग
परिवर्तित	121 (34%)
अपरिवर्तित	234 (65%)
कुल योग	355 (99.9%)
काई वर्ग = 35.56 मुक्तांश 1, 0.01 स्तर पर अभीष्ट = 6.64	

परिवर्तित व्यावसायिक आकांक्षाएँ 34% जबकि अपरिवर्तित व्यावसायिक आकांक्षाएँ 65.9% पाई गईं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अपरिवर्तित व्यावसायिक आकांक्षाओं की तुलना में परिवर्तित व्यावसायिक आकांक्षाएँ कम हैं।

(ii) उच्चतर माध्यमिक कक्षा में प्रवेश के बाद छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षाएँ हर परिवेश में समान हैं।

सारिणी 11 से स्पष्ट है कि काई वर्ग का परिकलित मान = 0.25 है जो 0.01 स्तर पर

अभीष्ट मान से कम है अतः सार्थक अंतर नहीं है अर्थात् हर परिवेश में व्यावसायिक आकांक्षाओं के समान विकास की परिकल्पना स्वीकार की जाती है।

सारिणी 11

परिवेशीय आधार पर व्यावसायिक आकांक्षाओं का काई वर्ग विश्लेषण

परिवेश	व्यावसायिक आकांक्षाएं		
	समानाकांक्षा	भिन्नाकांक्षा	योग
ग्रामीण	51	26	77
व्यापारिक	59	31	90
शासकीय	61	34	95
औद्योगिक	63	30	93
काई वर्ग = 0.25 मुक्तांश 3, .01 स्तर पर अभीष्ट 11.34			

ग्रामीण व व्यापारिक परिवेश की छात्राओं में लगभग समानाकांक्षा (परिवर्तित नहीं) पायी गई, जबकि व्यापारिक, शासकीय, औद्योगिक परिवेश की छात्राओं में भिन्नाकांक्षा (परिवर्तित का औसत) लगभग समान पायी गई।

परिणाम

- (1) ग्रामीण व औद्योगिक परिवेश में माता, पिता और छात्रा तीनों में व्यावसायिक आकांक्षाओं की समानता व भिन्नता लगभग समान पायी गई जबकि व्यापारिक व शासकीय परिवेश में छात्रा, माता से भिन्न, पिता की आकांक्षाएँ बिल्कुल समान पायी गई।
- (2) माता-पिता के बढ़ते शिक्षा स्तर के साथ-साथ छात्राओं के व्यावसायिक आकांक्षा स्तर में वृद्धि पायी गई।

- (3) कामकाजी महिलाओं की अपेक्षा गृहिणियों की छात्राओं में उच्च व्यावसायिक आकांक्षा अधिक पायी गई।
- (4) पिता के व्यावसायिक स्तर के आधार पर छात्राओं ने अधिकांशतः मध्यमस्तरीय व्यवसायों में जाने की इच्छा व्यक्त की।
- (5) उच्चतर माध्यमिक कक्षा वाली छात्राओं की व्यावसायिक आकांक्षाओं में 34% परिवर्तन पाया गया जबकि 65% छात्राओं ने अपनी आकांक्षाएँ परिवर्तित नहीं कीं।
- (6) ग्रामीण व व्यापारिक परिवेश की छात्राओं में लगभग समानाकांक्षा (परिवर्तित नहीं) पायी गई जबकि शासकीय और औद्योगिक परिवेश की छात्राओं में भिन्नाकांक्षा (परिवर्तित) का औसत लगभग समान पाया गया।

शैक्षिक निहितार्थ व सुझाव

इस शोधाध्ययन के निष्कर्ष का उपयोग, शिक्षक, प्रशिक्षक, प्रशासक, शिक्षाधिकारी, शोधकर्ता, पाठ्यक्रम निर्माता (शिक्षा संस्थान, राज्य शिक्षा प्रशिक्षण और अनुसंधान परिषद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् तथा राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन विश्वविद्यालय के शिक्षाविदों के द्वारा किया जा सकता है।

व्यावसायिक आकांक्षा के संदर्भ में छात्राओं में विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक लक्षण विकसित किये जाएँ जिससे वे भी बालकों की भाँति व्यवसायों में भागीदारी दे सकें। ग्रामीण क्षेत्रों में व्यावसायिक सूचनाएँ उपलब्ध करायी जाएँ जैसे- व्यावसायिक

पत्र-पत्रिकाएँ, नोटिस रोजगार जिन्हें बालिकाएँ देख व पढ़ सकें और विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित व्यवसायों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकें।

समय-समय पर शिक्षाविदों और पालकों की भी चर्चाएँ होनी चाहिए। छात्राओं, पालकों को संचार माध्यमों से तथा चर्चाओं के द्वारा परंपरावादी और

गैर परंपरावादी व्यवसायों के विषय संबंधी जानकारी देनी चाहिए। माता-पिता की आय, व्यवसाय, शिक्षा, बच्चों के प्रति माता-पिता का रवैया और छात्राओं की व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करने की तकनीकी के प्रभाव का अध्ययन व्यावसायिक विकास के संदर्भ में आवश्यक है।

संदर्भ

- अग्रवाल, जे.सी. (1984), *लैंडमार्क्स इन द हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडियन एजुकेशन*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृ. 16-17 ।
- क्राइट्स, जे.ओ. (1969), *वोकेशनल साइकोलॉजी द मैकग्राहिल बुक कंपनी*, न्यूयार्क।
- गौर, जगशंकर (1973), *फैक्टर्स इफेक्टिंग द ऑक्यूपेशनल एक्सप्रेसिंस ऑफ हायर सेकेंडरी स्कूल स्टूडेंट्स ऑफ दिल्ली*, पीएच.डी., आई.सी.एस.एस.आर.।
- गौतम, विमलेश (1989), *डेल्टा स्तरों पर विद्यार्थियों की शैक्षिक एवं व्यावसायिक रुचियों का अन्वेषण तथा उसका उनके भावी पाठ्यक्रमों हेतु अभिप्राय*, भारतीय आधुनिक शिक्षा: सप्तक अंक, प्रथम जुलाई, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली।
- जैन, संगीता (1995), *छात्राओं की व्यावसायिक उन्मुखता पर उनकी पृष्ठभूमि संबंधी कारकों का अध्ययन*, साइकोलॉजी, पी.एच.डी., बी.यू., भोपाल।
- फिलिप्स ई., जेकब (1956), *चेंजिंग वैल्यूज इन कॉलेज*, हार्पर एंड ब्रदर्स, न्यूयार्क।
- भारतीय आधुनिक शिक्षा*, चतुर्थ अप्रैल 1993, पृ. 12
- स्टीफेंसन, आर. एम. (1957), *रियलिज्म ऑफ वोकेशनल च्वायस: ए क्रीटीक एंड एन एग्जाम्पल, दि पर्सनल एंड गाइडेंस जर्नल*, वोल्यूम (35), इश्यू-8, पृ. 482-488
- मुखर्जी, एस.एन. (1966), *हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन इंडिया (मॉडर्न पीरियड)* आचार्य बुक डिपोट, बड़ौदा।

शिक्षण साधन और बहुसंचार माध्यम

हीरालाल बाछोटिया*

वर्तमान युग संचार क्रांति का युग है। संचार के नये-नये माध्यम प्रचलित हुए हैं। परंपरागत शैक्षिक साधनों के साथ-साथ नवीन एवं विविध संचार माध्यमों का भी शिक्षण में यथोचित प्रयोग होना चाहिए। इससे शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता मिलेगी और विद्यार्थी के लिए भी अधिगम सरल और रोचक होगा। प्रस्तुत लेख में संचार माध्यमों के शिक्षण में महत्त्व व उपयोग को ध्यान में रखते हुए संचार माध्यमों की जानकारी व संभावित उपयोग के बारे में बताया गया है।

हुआ यह है कि संचार माध्यमों ने लोगों को सूचना की जरूरत और उनके महत्त्व के प्रति सचेत कर दिया है। अब समाज में सूचना के लिए अधिक आग्रह है। सूचना की माँग भी अधिक है। लोग लिखे हुए शब्द के बजाय दृश्य पर अधिक भरोसा करते हैं। उसको महत्वपूर्ण समझते हैं। भाषा/साहित्य के शिक्षण में भी दृश्य-श्रव्य माध्यमों का महत्त्व बढ़ गया है। ज्ञानेंद्रियों को क्रियाशील रखने में दृश्य-श्रव्य माध्यमों का महत्त्व भी है। प्रत्यक्ष अनुभव के लिए दृश्य उपकरणों की आवश्यकता होती है। इनकी सहायता से पाठ्य-सामग्री को सरस तथा सरल बनाया जा सकता है। विषय को

भी रोचक और बोधगम्य बनाया जा सकता है। इससे स्वयं सीखने की प्रेरणा मिलती है। इससे अर्थ ग्रहण में भी सहायता मिलती है। इससे शब्द भंडार में पर्याप्त वृद्धि होती है। दृश्य उपकरणों में श्याम पट्ट (ब्लैक बोर्ड) सबसे अधिक प्रचलित है। ब्लैक बोर्ड का प्रयोग रेखाचित्र, चित्र, मानचित्र, ग्राफ आदि के लिए किया जा सकता है। शब्दों की वर्तनी समझाने जैसा काम भी ब्लैक बोर्ड की मदद से बखूबी किया जाता है। यह शिक्षक के पास सब से आसान और विश्वसनीय साधन है। इसी के साथ फेल्ट बोर्ड, चार्ट, चित्र, फ्लैश कार्ड भी दृश्य उपकरणों में आते हैं। किताब या मुद्रित

*के 40, एफ साकेत, नयी दिल्ली 100017

शब्द को समझाने, उसका विश्लेषण करने आदि का काम शताब्दियों तक शिक्षा-जगत ने इसी की सहायता से किया है। अब दृश्य-श्रव्य माध्यमों के आ जाने से स्थिति में कुछ परिवर्तन आया है। लेकिन ऐसा नहीं है कि दृश्य-श्रव्य माध्यमों ने इन्हें बेदखल कर दिया है। खासकर चित्रों का महत्त्व यथावत बना हुआ है। सभी आयु वर्ग के शिक्षार्थी इसमें रुचि लेते हैं। चित्रों का प्रयोग प्रभावशाली होता है इसीलिए पुस्तक से लेकर अखबार, विज्ञापन आदि में चित्र की अहम् भूमिका होती है। चित्र और शब्दों का साथ-साथ प्रयोग और भी प्रभावशाली होता है। चित्र में दिखाई गई वस्तुएँ विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न अर्थ का संप्रेषण करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति चित्र को अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसार समझता है। यही कारण है कि सांस्कृतिक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए चित्रों का विशेष महत्त्व है। जब हम अन्य भाषा-द्वितीय अथवा तृतीय के रूप में, किसी विदेशी को सिखाते हैं तो भाषिक पक्ष के साथ सांस्कृतिक पक्ष भी किसी-न-किसी रूप में उपस्थित होता है। स्थिति-परक पाठ्यसामग्री का तो आधार ही चित्र होता है।

जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेज़ी भाषा सिखाने की पुस्तकें तो रेखाचित्रों तथा चित्रों से भरी होती हैं। इधर केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अंतर्गत केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने मलयालम्, कन्नड़, तेलुगु सिखाने के लिए जो पुस्तकें नागरी लिपि के माध्यम से प्रकाशित की हैं, उनमें चित्रों को समुचित स्थान दिया गया है। विशेष रूप से लक्ष्य भाषा के सर्वनामों का जितना व्यतिरेकी विवेचन

इन पुस्तकों में चित्रों द्वारा स्पष्ट किया गया है यह सब बिना चित्रों द्वारा संभव ही नहीं होता। ये सब अयांत्रिक शिक्षक साधन हैं। आगे हम यांत्रिक और नये इलेक्ट्रॉनिक शिक्षण साधनों की चर्चा करेंगे।

अन्य दृश्य माध्यम

अन्य दृश्य माध्यमों में प्रक्षेपक (प्रोजेक्टर) ओवर हेड प्रक्षेपक, स्लाइड प्रक्षेपक, अपारदर्शी प्रक्षेपक, चित्र-पट्टी आदि भी शामिल हैं। प्रक्षेपक से रेखाचित्र, मूकचित्र आदि को दिखाया जा सकता है। इसकी सहायता से कोई भी पारदर्शी दिखाई जा सकती है। इसकी उपयोगिता यह है कि शिक्षक पारदर्शियाँ दिखाते हुए निरंतर कक्षा से मुखातिब रहता है तथा पारदर्शी(ट्रांसपेरेन्सी)में दिए बिंदुओं पर चर्चा आदि जारी रख सकता है। व्याकरणिक सारणियों या भाषिक बिंदुओं को पहले से पारदर्शियों पर लिखा या टाइप किया जा सकता है, कक्षा में उनके प्रदर्शन द्वारा उन पर जीवंत चर्चा की जा सकती है।

स्लाइड प्रक्षेपक की सहायता से सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले चित्रों, चार्टों आदि को दिखाया जा सकता है। इसी प्रकार ओपेक प्रोजेक्टर या “इपिडाइस्कोप” द्वारा किसी पुस्तक के पृष्ठ या पाठ्य-सामग्री को पर्दे पर दिखाया जा सकता है।

इन दृश्य साधनों के उपयोग तथा निर्माण का प्रशिक्षण पहले डी.टी.ए. (एन.सी.ई.आर.टी.) में दिया जाता था जो अब केंद्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान (सी.आई.ई.टी.) (एन.सी.ई.आर.टी.) में परिवर्तित कर दिया गया है।

चित्र-पट्टियाँ फोटोग्राफी से तैयार की जाती हैं। भाषा शिक्षण में इसकी विशेष उपयोगिता है। काल, पक्ष, प्रयोग, मिश्र वाक्यों का प्रयोग इन पट्टियों के द्वारा सिखाया जा सकता है। भिन्न भाषा कौशलों को सिखाने के लिए एक ही फ़िल्म स्ट्रिप्स का प्रयोग बार-बार किया जा सकता है। जो भाषा सिखाई जा रही है उस भाषिक समाज की पृष्ठभूमि इन फ़िल्म स्ट्रिप्स में प्रदर्शित की जाती है जिससे अन्य भाषा शिक्षण में पर्याप्त मदद मिलती है।

श्रव्य माध्यम से भाषा की ध्वनियाँ, स्वरित प्रक्रिया, बलाघात आदि को सीखा या सिखाया जा सकता है। इस दृष्टि से रिकॉर्ड्स, टेपरिकॉर्डर तथा रेडियो का सर्वाधिक महत्त्व है।

लिंग्वा रिकॉर्ड

लिंग्वा रिकॉर्ड को डिस्क रिकॉर्ड भी कहते हैं। लिंग्वा पद्धति पर “हिंदी-लिंग्वा रिकॉर्ड” का निर्माण केंद्रीय हिंदी निदेशालय (भारत सरकार) द्वारा किया गया है। ये रिकॉर्ड पत्राचार के माध्यम से हिंदी पाठ्य-सामग्री के रूप में तैयार किये गए हैं। इनको एक प्रकार से पाठ्य-सामग्री का पूरक कह सकते हैं।

हिंदीतर भाषा - भाषियों और विदेशियों को हिंदी भाषा का शुद्ध उच्चारण और उसकी वाक्य संरचना तथा व्यावहारिक हिंदी सीखने में सहायता प्रदान करने के लिए रिकार्डों के सेट तैयार किये गए हैं। सेट के पहले चार रिकॉर्ड ध्वनि और उच्चारण से संबंधित हैं। दूसरे सेट के आठ रिकॉर्डों में आधारभूत व्याकरणिक नमूनों का विश्लेषण किया गया है।

तीसरे सेट के चार रिकॉर्डों के अंतर्गत आठ पाठों में विभिन्न परिस्थितियों और वातावरण से संबंधित सामान्य बातचीत का नमूना प्रस्तुत किया गया है।

टेप रिकॉर्डर

कैसेट रिकॉर्डर भाषा शिक्षण का व्यावहारिक माध्यम है। इसके माध्यम से उच्चारण, अभ्यास, शुद्ध उच्चारण के प्रति अभ्यस्त बना या बनाया जा सकता है। ध्वनियों के प्रत्यक्ष शिक्षण की दृष्टि से इसका आज भी बहुत महत्त्व है।

इस प्रकार के दो ट्रैक के कैसेट रिकॉर्डर भी हैं जिनमें शिक्षार्थी मॉडल को सुनकर दुहराता हुआ रिकॉर्ड कर सकता है और बाद में मॉडल से अपने रिकॉर्डिंग की तुलना कर सकता है और अपनी गलती का स्वयं सुधार कर सकता है। लगभग यही प्रक्रिया भाषा-प्रयोगशाला में भी होती है।

रेडियो

रेडियो श्रव्य माध्यमों में सर्वप्रमुख है। भाषा शिक्षण में रेडियो का विशेष स्थान है। रेडियो कार्यक्रम साहित्य/भाषा शिक्षण में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इतना ही नहीं नाटकों में “साउंड इफ़ेक्ट्स” ने इस श्रव्य माध्यम को कई गुना प्रभावशाली बना दिया है। इस दृष्टि से रेडियो तकनीक ने अनेक संभावनाएँ उपस्थित कर दी हैं। रेडियो प्रसारण के अनेक लाभ हैं। इनमें प्रमुख हैं—

1. रेडियो बोलचाल की भाषा का आदर्श रूप प्रस्तुत करता है जिसको भाषा शिक्षण के लिए अपनाया जा सकता है।

2. देश के किसी भी कोने में रह रहे श्रोता को रेडियो के माध्यम से सिखाया या पढ़ाया जा सकता है।
3. रेडियो पर अच्छे शिक्षकों / लेखकों / भाषाविदों की सेवाओं का उपयोग किया जा सकता है या किया जाता है जिससे श्रोता को आधिकारिक जानकारी आदि उपलब्ध होती है।
4. रेडियो अन्य साधनों से सस्ता तथा सर्वसुलभ है।

आज रेडियो के माध्यम से अनेक प्रकार के शैक्षिक कार्यक्रम प्रसारित हो रहे हैं। सर्वजन संप्रेषण के माध्यमों में रेडियो अग्रगण्य है। ट्रांज़िस्ट्रों की बाढ़ ने रेडियो की उपयोगिता में चार चाँद लगा दिये हैं।

भाषा शिक्षण की दृष्टि से रेडियो पर प्रसारित पाठों का बहुत महत्त्व है। इसमें शिक्षक, भाषाविद्, लेखक, उद्घोषक सभी की मिली-जुली भूमिका होती है। रेडियो द्वारा प्रसारित पाठों का कक्षा में भी उपयोग किया जा सकता है। सी.आई.ई.टी. (एन.सी.ई.आर.टी) ने कुछ समय पहले राजस्थान में रेडियो से हिंदी पढ़ाने का ऐसा बड़ा प्रयोग किया था जिसमें स्कूलों को रेडियो सेट भी उपलब्ध कराये गए थे।

रेडियो पर प्रसारित पाठों को टेप करके भी रखा जा सकता है। इस प्रकार इस उपयोगी सामग्री को जब चाहें तब सुन सकते हैं। रेडियो कार्यक्रम द्वारा श्रवण माध्यम से भाषा कौशलों का दृढ़ीकरण होता है और उनकी अभिवृद्धि भी। यह रेडियो की ही विशेषता है।

स्वतंत्रता के बाद से आकाशवाणी ने शैक्षिक कार्यक्रम के माध्यम से हिंदी पाठों का भी प्रसारण शुरू किया। वह 1969 का वर्ष था जब हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को पढ़ाने के लिए आकाशवाणी केंद्रों से प्रसारण शुरू हुआ। लखनऊ से तमिल, भोपाल से मलयालम, पटना से तेलुगु, जयपुर से कन्नड़, के पाठों को सिखाने के लिए भी पाठों का प्रसारण शुरू हुआ। जैसे राँची से पंजाबी, तेलुगु तथा तमिल, लखनऊ से बांग्ला, दिल्ली से तमिल तथा बांग्ला का प्रसारण होने लगा। दक्षिण के केंद्रों हैदराबाद व बेंगलुरु से हिंदी तथा पड़ोस की भाषाओं का प्रसारण शुरू हुआ। इसमें एक भाषा के पाठों का प्रसारण 4 से 6 माह तक चलता था; सप्ताह में लगभग पाँच पाठ प्रसारित किए जाते थे और अवधि 15 मिनट रखी जाती थी। अनेक केंद्रों खासकर दिल्ली से आज भी यह प्रसारण होता है। यह ज़रूर है कि पूर्व-प्रसारित पाठ ही पुनः प्रसारित किये जाते हैं। इस प्रकार भारत जैसे विशाल देश में रेडियो के माध्यम से भाषा शिक्षण की अपूर्व संभावनाएँ हैं।

फिल्में और हिंदी शिक्षण - सिनेमा का भाषा शिक्षण में महत्वपूर्ण स्थान है। फ़िल्म की सहायता से भाषा-शिक्षण विधिवत् किया जा रहा है। तथापि सिनेमा के माध्यम से भाषा का परोक्ष रूप से पर्याप्त शिक्षण हो रहा है। हिंदीतर क्षेत्रों में फ़िल्म के माध्यम से हिंदी का जितना प्रचार-प्रसार हो रहा है, अन्य विधि से नहीं।

भाषा विषयक फ़िल्मों के प्रदर्शन से भाषा के शुद्ध प्रयोग का अभ्यास संभव है। फ़िल्म से

जहाँ ज्ञान की वृद्धि होती है वहीं अभिव्यक्ति में स्पष्टता आती है। अनजाने ही शिक्षार्थी या दर्शक के भाषा कौशलों, बोलने तथा सुनने में निखार आ जाता है। भाषिक विशेषताएँ विशेषकर नाद सौंदर्य, बलाघात, सुर आदि शिक्षार्थी के मानस पटल पर स्थायी रूप से अंकित हो जाते हैं। इसी प्रकार भाषा की मुहावरेदानी तथा चुटीले संवाद दर्शक पर सीधे प्रभाव डालते हैं। फ़िल्म में एक साथ चित्र, गति, रंग तथा ध्वनि का समन्वित रूप सबको बाँध लेता है।

फ़िल्म के माध्यम से जो भाषा सिखाई जाती है उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी स्पष्ट रूप से उभारी या प्रस्तुत की जाती है। विशेष रूप से अन्य भाषा के रूप में हिंदी या कोई भी भाषा सीखने वाले के लिए साहित्य/संस्कृति की समझ पैदा करने में फ़िल्म का अमिट योगदान है।

लिपि सिखाने के लिए भी फ़िल्म का उपयोग किया जाता है, “देवनागरी लिपि” शिक्षण पर भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर, साहित्य अकादमी, एन.सी.ई.आर.टी. आदि ने फ़िल्मों का निर्माण किया है। इसी प्रकार हिंदी के अति महत्वपूर्ण लेखकों, कवियों पर एन.सी.ई.आर.टी. ने अब तक इक्कीस फिल्मों का निर्माण किया है। इनमें नागार्जुन, हरिशंकर परसाई, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि पर बनाई गई फ़िल्में प्रमुख हैं।

भाषा शिक्षण और टेलीविज़न

भाषा में “स्थितिपरक” तैयार पाठ्य-सामग्री को जितनी सुगमता से टेलीविज़न के माध्यम से

पढ़ाया जा सकता है, अन्य किसी विधि से नहीं। खासकर द्वितीय भाषा शिक्षण में इस माध्यम का उपयोग सर्वाधिक प्रभावशाली समझा जाता है।

इसके माध्यम से ही सी.सी.टी.वी. (क्लोड सर्किट टी.वी) प्रविधि को अपनाया जा सकता है। यह नवीनतम साधन है जिसका इस्तेमाल शिक्षण/प्रशिक्षण में किया जा रहा है। भाषा शिक्षण में भी इसका विशेष रूप से प्रयोग गति पकड़ रहा है। इसके माध्यम से कई प्रकार के भाषा कौशलों को समन्वित रूप से पढ़ा या पढ़ाया जा सकता है। वीडियो के माध्यम से तो इसे बार-बार दिखाया भी जा सकता है। सी.सी.टी.वी. की उपयोगिता तब ही होगी जब एक साथ पाठ कई कक्षाओं में पढ़ाया जाये। सीखने की क्रिया को प्रभावी के साथ ही सरल रखने की दृष्टि से यह पद्धति सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है।

जबसे वी.सी.आर./सी.डी. प्लेयर आये हैं, दूरदर्शन पर कार्यक्रम देखने की समय की पाबंदी खत्म हो गई है। अब टी.वी. के मन पसंद या उपयोगी कार्यक्रम को रिकॉर्ड कर सी.डी. प्लेयर की मदद से जब चाहें देख सकते हैं। विभिन्न संस्थाओं जैसे इग्नू (इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय), एन.सी.ई.आर.टी., सी.आई.एल., सी.आई.आई.ई.एल., साहित्य अकादमी, ओपन स्कूल आदि के द्वारा निर्मित भाषा/साहित्य संबंधी फिल्मों, खासकर वीडियो फिल्मों को सी.डी. प्लेयर द्वारा जब चाहे देखा या दिखाया जा सकता है। इग्नू और एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रसारित “ज्ञान दर्शन” कार्यक्रम का भी लाभ उठाया जा सकता है।

भाषा/साहित्य शिक्षण, प्रशिक्षण संबंधी दृश्य-श्रव्य फ़िल्में पूरक सामग्री का ही काम कर सकती हैं। ये उपकरण शिक्षक की सहायता के लिए हैं। ये साधन एकांगी हैं। इन साधनों से शिक्षार्थी की सारी जिज्ञासाओं का समाधान नहीं हो सकता। अध्यापक ही वह जीता-जागता श्रव्य-दृश्य साधन है जिसका विकल्प नहीं है।

कंप्यूटर का भाषा शिक्षण में उपयोग

मुद्रित साहित्य एक प्रकार से माध्यम (मीडिया) से हमारा पहला साक्षात्कार था। अब साहित्य प्रिंट मीडिया को छोड़कर दृश्य-श्रव्य अर्थात् टी.वी. पर आ गया है। यह एक बड़ा परिवर्तन है। इस परिवर्तन के द्वारा पुराना नष्ट नहीं हुआ है, उसमें पुनः उत्पादन हुआ है। रेमंड विलियम के अनुसार 'हमारे समय में संचार का अर्थ जनसंचार ही है, वे मनुष्य के विकास में बने हैं।' टी.वी. की संचार प्रविधि साहित्य को उसी तरह अपने अनुकूल बनाती है या बदलती है जिस तरह प्रिंट मीडिया ने कभी साहित्य को बदला था। मीडिया साहित्य को उसकी निजता, स्थानीयता और वैचारिकता से मुक्त कर सार्वजनिक बनाता है। हर वह अनुभव जो दूसरे तक संप्रेषित होना चाहता है, मीडिया पर निर्भर हो जाता है। माध्यम ने साहित्य का एक उत्तर-यथार्थवादी, उत्तर आधुनिक युग शुरू कर दिया है। खासकर ऐसे समय में जब कागज़ महँगा किया जा रहा है जिससे पुस्तक महँगी हो रही है। उधर रेडियो टेलीविज़न सस्ते किए जा रहे हैं।

कंप्यूटर, मोबाइल, फ़ैक्स जैसे नये इलेक्ट्रॉनिक माध्यम जनसंचार के अत्याधुनिक साधन हैं।

सूचना क्रांति का सीधा संबंध कंप्यूटर से जुड़ा है। पर्सनल कंप्यूटर के आ जाने से द्विभाषी, त्रिभाषी पैकेज उपलब्ध होने लगे हैं। इससे महत्वपूर्ण दस्तावेज़ों और पांडुलिपियों का संग्रह किया जा सकता है। अनेक प्रतिष्ठानों द्वारा शब्दकोशों का निर्माण किया गया है जो बटन दबाते ही अर्थ का उद्घाटन कर देते हैं। कंप्यूटर साहित्य/भाषा शिक्षण में भी अहम् भूमिका निभा रहा है। खासकर शिक्षक-प्रशिक्षण के लिए तैयार की गई सी.डी., कंप्यूटर के माध्यम से कहीं भी दिखाई जा सकती है। योग्यतम अनुभवी शिक्षकों की सेवाएं प्रशिक्षण कार्यक्रम की सी.डी. बनाने के लिए प्राप्त की जा सकती हैं। इस सी.डी. से अनेक प्रतियाँ तैयार की जा सकती हैं और कंप्यूटर पर दिखाई जा सकती हैं। यह प्रदर्शन शिक्षार्थियों को किसी विद्वान या अनुभवी शिक्षक से सीधे संपर्क में मदद करेगा। इसी प्रकार किसी भी भाषिक/साहित्यिक विषय पर कंप्यूटर की मदद से कार्यक्रम तैयार किया जा सकता है। प्रशिक्षण के दौरान इसका प्रदर्शन कर संकल्पनाओं को स्पष्ट करने में सहायता मिल सकती है। इसकी विशेषता यही है कि दृश्य-श्रव्य के साथ इसमें लिखित संदेश पढ़कर अवधारणाओं को दृढ़ीभूत किया जा सकता है।

आज समाज में बदलाव के कारण शिक्षा से भी यही माँग की जा रही है। यह ज़रूर है कि कंप्यूटर कभी शिक्षक का स्थान नहीं ले सकता किंतु यह भी हकीकत है कि इसने शिक्षक की भूमिका बदल दी है। अतिप्रतिभावान तथा पिछड़े दोनों तरह के छात्रों पर कंप्यूटर की मदद से

ध्यान दिया जा सकता है। शिक्षण विधियों में कंप्यूटर का प्रयोग अब एक शर्त बन गई है। कुछ बिंदु इस प्रकार हैं—

नई सूचना तकनीकें

विधियों, संसाधनों के कारण जो कुछ नया उभर रहा है, उसका उपयोग बहु-संचार माध्यमों में चित्र, विषय-वस्तु तथा आवाज के एक साथ प्रदर्शन से संवादात्मक रूप में यह सब करना संभव हो गया है।

टेलीमैटिक्स

इसके द्वारा टेली कम्युनिकेशन तथा सूचना प्रौद्योगिकी का शैक्षिक परिवेश में एकीकरण कर दिया गया है।

अन्य नई तकनीकें

सूचना प्रौद्योगिकी की उपयुक्त सामग्री जिसका शिक्षा/शिक्षण में उपयोग हो सके, की पहचान कर उसका उपयोग करना इसकी विशेषता है।

टेलीमैटिक्स का काम राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कंप्यूटर नेटवर्क को जोड़ना है। यह कम लागत का विकल्प है। ट्रेनिंग कोर्स का वितरण करने की दृष्टि से भी यह उपयुक्त माध्यम है। ब्रिटेन में मुक्त विश्वविद्यालय इसके माध्यम से दूर शिक्षा उपलब्ध करा रहे हैं। दूर-शिक्षा के लिए इंटरैक्टिव मीडिया ने घर बैठे शिक्षा उपलब्ध कराने में सफलता प्राप्त की है। इसके माध्यम से जीवनपर्यंत शिक्षा (लांग लाइफ एजुकेशन) की संकल्पना को साकार किया जा सकता है।

इसके कारण शिक्षक की भूमिका मात्र मार्गदर्शक और सहायक (फ्रेसिलीटेटर) की रह गई है। भविष्य में शिक्षक के लिए लाजिमी होगा कि वह वैयक्तिक ध्यान अधिक दे। शिक्षक को विद्यालयों में अनेक जिम्मेदारियाँ ओढ़नी होंगी। उसे अपने विषय के अलावा भी शिक्षार्थियों की दूसरी तरह की मदद करनी होगी। इस हेतु शिक्षक को सेवाकालीन या पुनर्नवीकरण प्रशिक्षण देना होगा तथा बताना होगा कि उसकी भूमिका में परिवर्तन आ रहा है।

भाषा/साहित्य शिक्षण

इक्कीसवीं शताब्दी, जिसका एक दशक बीत रहा है, में वैज्ञानिक और तकनीकी उत्कर्ष और विकास अधिक मूर्त हो रहा है। अंतरिक्ष की अपार संभावनाएँ, परमाणु ऊर्जा, चिप प्रौद्योगिकी, सूचना प्रौद्योगिकी कंप्यूटर आदि में नये आयाम उद्घाटित हो रहे हैं। लगता है इक्कीसवीं शताब्दी में ज्ञान ही राजा होगा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी तथा प्रबंधन इसके सिपहसालार होंगे। जनसंख्या वृद्धि के कारण अनेकानेक सामाजिक बदलावों से रूबरू होना पड़ेगा। अतः चुनौतियों का सामना पूर्ण मानव संसाधन विकास के द्वारा ही संभव है। ऊर्जा, जिज्ञासा, काम करने की क्षमता तथा राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवहार के साँचों के प्रति जागृति की अनिवार्यता सबके लिए जरूरी उपकरण होंगे। मानव संसाधन से आशय है अभिवृत्ति, अभिरूचि, मानव मूल्य और भाषा तथा साहित्य। युवाओं खासकर शिक्षार्थियों से अधिक क्षमता की अपेक्षा होगी। अधुनातन ज्ञान,

आवश्यक कौशलों के विकास से ही ऐसी क्षमता का विकास हो सकेगा। वास्तविकतावादी शिक्षा (Holistic Education) ही नई शिक्षा होगी।

इस नई दिशा में विषय-वस्तु, शैली और माध्यम के बदलाव से नई पीढ़ी बदलते सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक वातावरण से अनुकूलन करने में समर्थ हो सकेगा। इस तरह सही काम के लिए सही व्यक्ति का प्रशिक्षण संभव हो सकेगा, मानव संस्थान का ताना-बाना पढ़ने वाला समाज उत्पन्न करेगा। इसके लिए जीवनपर्यंत शिक्षा ही आधार होगी। इस परिप्रेक्ष्य में शिक्षण-प्रशिक्षण का महत्व अपने-आप सिद्ध होता है। ये संस्थान वर्तमान में समाज की अपेक्षाओं पर खरे नहीं उतरे हैं। वर्तमान परिस्थितियों के चलते वे भविष्य की चुनौतियों को कैसे झेल सकेंगे? लोगों में इस तरह की चेतना के निर्माण में इग्नू, इसरा, एन. सी.ई.आर.टी. ने कुछ काम किया है, किंतु वह नाकाफ़ी है। अन्य संस्थानों को भी यह दायित्व निभाना होगा।

इधर हमारे देश में शिक्षण के लिए विशाल ढाँचा तैयार किया जा रहा है। देश में भाषा/साहित्य शिक्षण तथा अन्य विषयों के शिक्षण के लिए 1995 से एकलमार्गी वीडियो तथा द्विमार्गी श्रव्य अंतरिक्ष चैनल शुरू किया गया था। इनका राष्ट्रव्यापी लाभ शिक्षा विभागों, विश्वविद्यालयों द्वारा उठाया गया था। इनसेट (INSAT) के शुरू हो जाने पर छह राज्यों में शैक्षिक टी.वी (ETV) कार्यक्रम शुरू किये गए थे। उधर यू.जी.सी. ने भी उच्च शिक्षा के लिए

कार्यक्रम शुरू किये थे। इग्नू ने भी राष्ट्रीय नेटवर्क पर आधा घंटे का कार्यक्रम शुरू किया था। सन् 2000 से इग्नू ने ज्ञान दर्शन नामक शैक्षिक चैनल शुरू किया है। अब ज्ञान दर्शन के चार चैनल कार्य करते हैं। ये हैं जी.डी.चैनल, दूर शिक्षा का संवादात्मक चैनल, एकलव्य प्रौद्योगिकी चैनल और ज्ञान भारती चैनल। इसके साथ ही ज्ञान वाणी एफ़.एम. रेडियो चैनल भी काम कर रहा है। इस सबसे कितना लाभ हो रहा, इसका आकलन किया जाना चाहिए तथा जहाँ ज़रूरी हो परिष्कार या पुनर्विचार करना चाहिए। प्रो. मनमोहन चौधरी के अनुसार इसरो (इंडियन स्पेस रिसर्च ऑर्गेनाइजेशन) ने एजुकेशनल टेलीविज़न शुरू किया है जो भारत जैसे गरीब देश के लिए हाई-फ़्राई प्रौद्योगिकी है। वे सवाल करते हैं कि क्या यह वंचित स्कूलों की ज़रूरत है या इसरो की? (नेशनल कंसल्टेशन ऑन एड्यूसेट पृ. 64) उन्होंने यह भी टिप्पणी की है कि एड्यूसेट के कार्यक्रमों में रोचकता का अभाव है। अतः वे दर्शक शिक्षार्थी को आकर्षित नहीं कर पाते। स्कूल स्तर पर शैक्षिक टेलीविज़न का उपयोग नहीं किया जाता। “टर्निंग प्वाइंट” जैसा कार्यक्रम ज़रूर लोकप्रिय हुआ क्योंकि वह राष्ट्रीय चैनल पर आता था न कि शैक्षिक टेलीविज़न पर। इन सबके मद्देनज़र शिक्षण के बहु-संचार माध्यमों की ज़मीनी हकीकत तथा प्रभावशीलता का आकलन किया जाना चाहिए तथा उनमें सुधार आदि को लेकर पुनर्विचार करना चाहिए।

भविष्य में प्राइमरी से लेकर उच्च शिक्षा के शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों के लिए कई तरह के उपकरणों की अपेक्षा होगी। इन उपकरणों में

वीडियो-कांफ्रेंसिंग, श्रव्य कांफ्रेंसिंग, कंप्यूटर नेटवर्किंग डीवीडी/एलसीडी आदि का समावेश होगा। ये उपकरण केंद्रीय स्तर पर अपेक्षित हैं। इससे टेलीफोन और इंटरनेट के जरिए इंटरनेट ऑडियो-इंटर कनेक्टिविटी ऑन लाइन प्रशिक्षण दिया जाना संभव हो सकेगा। इसके लिए यथोचित स्तर का सॉफ्टवेयर विकसित करना होगा जो उपयोगकर्ता में रचनात्मकता भी उत्पन्न कर सके। इग्नू, यू.जी.सी. आदि को इसके लिए तैयार किया जाना चाहिए।

शिक्षा में कंप्यूटर के अनुप्रयोग न सिर्फ भारत में वरन् दुनिया भर में हो रहे हैं। विकसित देशों के अनुभव से भी हम लाभ उठा सकते हैं। प्राथमिक शिक्षा में कंप्यूटर का प्रयोग अमेरिका और केनेडा में सन् 1982 से हो रहा है। इनके सेकेंडरी स्कूलों में भी 1982 से ही कंप्यूटर का

प्रयोग हो रहा है। उनका अनुभव है कि शिक्षार्थी स्कूलों में कंप्यूटर का कम इस्तेमाल करते हैं। जबकि घरों में इसका इस्तेमाल 60% होता है। स्कूलों में भाषा शिक्षण में 20% से अधिक कंप्यूटर का उपयोग नहीं किया गया है। उनका यह भी कहना है कि ज्यादातर स्कूलों में कंप्यूटर एक शिक्षण साधन से ज्यादा नहीं माना गया है।

स्टेट स्कूल्स न्यूयॉर्क सिटी के स्कूलों में भी सॉफ्टवेयर, हार्डवेयर सुविधाओं में खासा अंतर देखा गया। विषय वस्तुएं तथा संगठन में इससे कोई भारी बदलाव नहीं आया है। इसका बड़ा कारण शिक्षक ही है।

इस प्रकार बहुसंचार माध्यम (मल्टी मीडिया) अत्यंत महंगा विकल्प है पर इसे तैयार करने वाले बाजार के अभाव में अधिक कुछ नहीं कर पाते।

कला, संगीत, नृत्य और रंगमंच

एन.सी.ई.आर.टी.*

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 के विकास की प्रक्रिया के दौरान गठित इक्कीस राष्ट्रीय फ़ोकस समूहों ने स्कूली शिक्षा से जुड़े विविध मुद्दों जैसे-पाठ्यचर्या क्षेत्र, राष्ट्रीय चिंताएँ तथा व्यवस्थागत सुधारों पर विस्तार से चर्चा करते हुए आधार पत्र लिखे। उन आधार पत्रों में दी गई चर्चाओं को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा तैयार की गई। एन. सी. ई. आर. टी. की ओर से समय-समय पर की जाने वाली बैठकों, गोष्ठियों, प्रशिक्षण कार्यक्रमों में उन आधार पत्रों पर चर्चा की जाती रही है। भारतीय आधुनिक शिक्षा के माध्यम से भी उन चर्चाओं को पाठकों तक पहुँचाने के प्रयास किये गए हैं। इस अंक में 'कला, संगीत, नृत्य और रंगमंच' पर बने फ़ोकस समूह द्वारा बनाये गए आधार पत्र में दी गई पाठ्य सामग्री के शुरुआती कुछ चुनिंदा अंशों को शामिल किया गया है। इस फ़ोकस समूह ने कला शिक्षा को किसी अन्य दूसरे विषयों के समान विद्यालयी पाठ्यचर्या का अभिन्न एवं आवश्यक अंग बनाने की ज़ोरदार सिफ़ारिश की एवं कहा कि कला शिक्षा प्रत्येक विद्यालय में दसवीं कक्षा तक अनिवार्य विषय के रूप में दी जाये। कला को पाठ्यचर्या में महत्त्व दिया जाना चाहिए और मात्र एक मनोरंजन का माध्यम एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने की गतिविधि नहीं समझना चाहिए। कला में शिक्षण से ज्यादा अधिगम अथवा सीखने पर बल दिया जाना चाहिए एवं शिक्षकों द्वारा निर्देशन के स्थान पर पारस्परिक सहयोग एवं प्रतिभागिता की नीति अपनानी चाहिए।

*राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005, कला, संगीत, नृत्य और रंगमंच, राष्ट्रीय फ़ोकस समूह का आधार पत्र, से लिए गये चुनिंदा अंश (एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा 2009 में प्रकाशित)।

1. विद्यालयों में कला शिक्षा: एक अवलोकन

*मध्यस्थता और सृजनात्मकता की हर जगह
कमी है, विशेषकर विद्यालयों में। हमारे जीवन
से कला विलुप्त हो रही है और हम हिंसा
का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।*

—यहूदी मेनुहिन

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही विभिन्न शासकीय प्रपत्रों में विद्यार्थियों के संपूर्ण विकास के लिए कला शिक्षा को एक अत्यधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में इंगित किया गया है। जैसे कि 1952-53 शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप से लिखा गया है, “विद्यार्थियों में क्रियात्मक ऊर्जा का संचरण किया जाये जिससे वे सांस्कृतिक विरासत और संपन्न रुचियों के विकास में समर्थ हो सकें, जिन्हें वे अपने खाली समय तथा बाद में अपने जीवन में भी जारी रख सकें।” माध्यमिक शिक्षा की एक मुख्य भूमिका के रूप में इसका उल्लेख करते हुए यह सुझाव दिया गया है कि कला, संगीत, नृत्य इत्यादि विषयों को पाठ्यचर्या में एक सम्मानजनक स्थान दिया जाना चाहिए।

यह भी सुझाव दिया गया कि हाई स्कूल के प्रत्येक विद्यार्थी को एक शिल्प सीखना चाहिए जो कि इस अवस्था के लिए ज़रूरी माना जाए; प्रत्येक विद्यार्थी को हस्त-कार्यो हेतु कुछ समय मिलना चाहिए जिसमें उसे एक उचित मानक दक्षता प्राप्त करनी चाहिए जिससे कि भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर वह इससे जीविकोपार्जन भी कर सके। किंतु यह प्रस्ताव मात्र आर्थिक

आधार पर नहीं दिया गया था। हाथों से कार्य करके किशोर बच्चे श्रम का सम्मान करना सीखते हैं और रचनात्मक कार्य करने के आनंद का भी अनुभव करते हैं। उपयोग और सौंदर्य की वस्तुओं को निपुणता और संपूर्णता के साथ बनाने से ज्यादा बड़ा शिक्षा का कोई और माध्यम नहीं है। यह प्रायोगिक अभिरुचि को विकसित करता है, विचारों को स्पष्ट बनाने में सहायक होता है, सहकारी कार्यो हेतु अवसर प्रदान करता है और इस प्रकार संपूर्ण व्यक्तित्व को समृद्ध बनाता है।

कोठारी आयोग (1964-66) का प्रतिवेदन इस बात पर बल देता है कि उम्र की उस अवस्था में, जो खोज और आविष्कार को महत्व देती है, रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए शिक्षा का दिया जाना इसे और अधिक सार्थक बना देता है। “संगीत और दृश्य कला के शिक्षकों के प्रशिक्षण हेतु उचित सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। शिक्षा में कला की उपेक्षा शिक्षण प्रक्रिया को निर्धन बनाती है और सौंदर्यपरक रुचियों और मूल्यों को अधोगमन की ओर अग्रसर करती है।” यह संस्तुति दी गई कि शासन को कला शिक्षा की वर्तमान स्थिति के सर्वेक्षण के लिए विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त करनी चाहिए और इसके विस्तार और व्यवस्थित विकास हेतु संभावनाओं की खोज करनी चाहिए। आयोग ने यह भी प्रस्तावित किया कि स्थानीय समुदाय के व्यावहारिक सहयोग के साथ देश के सभी भागों में बाल भवन स्थापित किये जाने चाहिए। विश्वविद्यालय स्तर पर कला विभागों को सशक्त किया जाना चाहिए और इस क्षेत्र में शोध अध्ययनों को बढ़ावा देना चाहिए।

फलतः विद्यालयों में कला शिक्षा के सुधार के पूरे मुद्दे का परीक्षण करने के लिए एन.सी.ई. आर.टी. के प्रशासनिक निकाय ने 1966 में श्री के.जी. सैयदैन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी। समिति ने अपना प्रतिवेदन 1967 में प्रस्तुत किया था जिसमें दी गई संस्तुतियों में जोर दिया गया था—स्कूलों में कला शिक्षण के लक्ष्यों और उद्देश्यों पर, मुख्य शैक्षिक लक्ष्य की प्राप्ति में कला शिक्षा की ज़रूरी भूमिका तथा पूर्व प्राथमिक से शिक्षा के सभी स्तरों पर कला शिक्षा की आवश्यकता पर। इसकी संस्तुतियों में यह भी शामिल था कि कला विद्यालयों में पाठ्यक्रम पूरा करने के पश्चात् उच्च प्राथमिक स्तर और माध्यमिक स्तर के शिक्षक बनने के लिए विद्यार्थी इन संस्थानों में कला शिक्षा के व्यावसायिक प्रशिक्षण हेतु प्रवेश प्राप्त कर सकें। कला शिक्षा विभाग विश्वविद्यालय के शिक्षक-शिक्षा संस्थानों में ही खोले जाने चाहिए। समिति ने यह भी प्रस्तावित किया कि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् में भी जल्दी ही एक कला शिक्षा विभाग की स्थापना की जानी चाहिए।

1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति, विद्यार्थियों में देश के विभिन्न भागों में रहनेवाले लोगों की विविध सांस्कृतिक और सामाजिक रीतियों की एक समझ बनाने को स्कूली शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य मानते हुए इस पर जोर देती है। 1986 की नीति का अनुगमन करते हुए 1992 की 'कार्यकारी योजना' "बच्चे की जन्मजात संभावनाओं को खोजने के संदर्भ में बच्चे के व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया को प्रोत्साहित

करने के क्रम में सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों को जोड़ने वाली शिक्षा" पर स्पष्ट विचार प्रकट करती है। औपचारिक शिक्षा के पूर्व प्राथमिक स्तर से लेकर उच्चतम स्तर तक एक क्रियान्वयन योजना तैयार की गई। आपसी भागीदारी, सांस्कृतिक अभिव्यक्तीकरण के लिए सस्ती एवं उपयोगी सामग्री का उपयोग और भाईचारे की धारणा को प्रोत्साहित करने के लिए समुदाय की सक्रिय भागीदारी, पाठ्यचर्या सुधार, शिक्षकों की अभिप्रेरणा, युवा पीढ़ी को सांस्कृतिक एवं सम्मिलित क्रियाकलापों में भाग लेने के लिए शिक्षकों द्वारा प्रोत्साहित किया जाना, आदि इस प्रपत्र के उत्कृष्ट अभिलक्षण थे।

पहली तीन राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखाओं (1975, 1988 और 2000) ने विद्यालयी पाठ्यचर्या में कला शिक्षा के लक्ष्यों और उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कला शिक्षा पर बल दिया है। विविध कलाओं, नृत्य, संगीत, चित्रकारी इत्यादि का शिक्षण विद्यार्थियों को उनकी क्षमताओं को खोजने के अवसर देने और उन्हें इस प्रक्रिया में मदद तथा बढ़ावा देने के एक समान मूल सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए। एक महत्वपूर्ण बदलाव था कला शिक्षा के उद्देश्य में, जो अब शिल्प कार्य करने में श्रम की गरिमा का बढ़ावा न रहकर सौंदर्यपरक संवेदनशीलता और स्वतंत्र अभिव्यक्ति का विकास हो गया। इन राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखाओं ने अनुशासित किया कि "कला शिक्षा कार्यक्रम ऐसा हो जो शिक्षार्थी को लोक कला, स्थानीय कला और अन्य सांस्कृतिक घटकों से परिचित कराने पर ध्यान

केंद्रित करे जिससे उसमें राष्ट्रीय विरासत के प्रति जागरूकता और सम्मान का भाव विकसित हो सके। अन्य केंद्रीभूत अवयवों से संबंधित मूल्यों जैसे—भारत की सांस्कृतिक विरासत, स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास एवं पर्यावरण संरक्षण आदि को प्रोत्साहित करने के लिए क्रियाकलापों तथा योजनाओं और विषयवस्तुओं का भी चयन एवं निर्माण करना चाहिए।” स्वयं कुछ करके सीखना और कला के प्रकारों से अवगत होना शिक्षार्थी के स्वयं के अनुभवों के विस्तार हेतु अति आवश्यक है। कला शिक्षा विखंडित नहीं होनी चाहिए। कक्षा दस तक सभी स्तरों में कला का समन्वय आवश्यक है।

विद्यार्थियों पर पाठ्यचर्या के बोझ को कम करने के माध्यमों तथा तरीकों और साथ ही साथ जीवनपर्यंत स्व-शिक्षण और दक्षता निर्माण के लिए अधिगम की गुणवत्ता में सुधार करने के उद्देश्य से 1992 में प्रो. यशपाल की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। इस समिति के प्रतिवेदन के फलस्वरूप अनुशांसाओं की एक सूची—“शिक्षा बिना बोझ के” के रूप में सामने आई। किंतु व्यवहार में भार बढ़ा ही और स्व-अभिव्यक्ति और सृजनात्मकता के कम ही अवसर शेष रहे।

विश्व में भारत ही एक ऐसा देश नहीं है जहाँ कला शिक्षा की समस्या विद्यमान है। यह एक विश्वव्यापी समस्या है जिसको 2000 में यूनेस्को के महानिदेशक ने एक अपील के रूप में प्रस्तुत किया। इसमें कला शिक्षा और रचनात्मकता को शांति की संस्कृति के विकास के लिए

विद्यालयों में प्रोत्साहित करने की अपील की गई है। अपने संबोधन में उन्होंने कहा कि—

अब एक अधिक संतुलित शिक्षा की आवश्यकता है, जहाँ विज्ञान, तकनीक और खेल संबंधी विषयों के साथ मानव विज्ञान और कला शिक्षा भी विद्यालयी शिक्षा के हर स्तर पर कदम से कदम मिलाकर चले। जिसके दौरान बच्चे और किशोर सीखने की ऐसी प्रक्रिया में भाग लें जो उनके लिए फ़ायदेमंद हो और जो उनमें बौद्धिक और भावनात्मक संतुलन बनाए रखे। ऐसे परिप्रेक्ष्य में खेल क्रियाएँ सृजनात्मकता को सजीव बनाने का एक ऐसा कारक हैं जिसे कला शिक्षा में प्रोत्साहन की ज़रूरत है। कला शिक्षा शरीर के साथ-साथ मस्तिष्क को भी प्रेरित करने वाली होनी चाहिए। भावनाओं को गति प्रदान कर यह मस्तिष्क का विकास करती है। यह स्मृति बढ़ाती है जिससे बच्चे की संवेदनशीलता तीक्ष्ण होती है और वे अन्य विषयों के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सक्षम बनते हैं, मुख्य रूप से विज्ञान के लिए यह रचनात्मक योग्यताओं का विकास करती है और उनके आवेग को उनके मनपसंद कार्यों को करने की ओर मोड़ती है।

2. कला शिक्षा में शिक्षण-अधिगम तथा मूल्यांकन की वर्तमान स्थिति

पिछले पन्नों में हमने देखा कि किस प्रकार शिक्षा के लगभग प्रत्येक प्रपत्र में कला शिक्षा पर बल दिया गया है परंतु वस्तुस्थिति यह है कि विद्यालयों, शिक्षकों, अभिभावकों, विद्यालय प्रबंधकों सभी के द्वारा कला को गौण स्थान दिया जाता है,

जबकि विद्यार्थी कला संबंधी गतिविधियों में अत्यधिक रुचि रखते हैं। कला शिक्षा की वर्तमान स्थिति यह है कि विगत कुछ दशकों में यह बद-से-बदतर होती चली गई है।

कला शिक्षा की वर्तमान स्थिति के पीछे बहुत से कारण हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा कला शिक्षा में किये जा रहे शोध कार्य “शिक्षण-अधिगम प्रणाली एवं मूल्यांकन पद्धति-एक गहन अध्ययन” में जो समस्याएँ सामने आ रही हैं उनसे दृष्टिगोचर होता है कि विद्यार्थी अपनी प्रारंभिक शिक्षा के वर्षों में सृजनात्मकता में रुचि रखते हैं परंतु कक्षा 6 तक पहुँचते-पहुँचते कला शिक्षा में उनकी रुचि क्रमशः कम होती जाती है।

इसके अनेक कारण हैं। इनमें विद्यालयों में मुख्य विषयों पर अधिक बल दिया जाना प्रमुख है। इन विषयों में संपूर्ण सत्र में विभिन्न परीक्षाओं द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। कला शिक्षा का मूल्यांकन अन्य विषयों के साथ जुड़ा न होने के कारण शिक्षकों, विद्यार्थियों यहाँ तक कि विद्यालयों द्वारा भी उसे गंभीरता से नहीं लिया जाता है।

एक और बड़ी समस्या है ऐसे शिक्षकों की कमी जो कला शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में पढ़ाने के लिए प्रशिक्षित हों। ऐसे कला शिक्षक जो 4 से 6 वर्षों तक कला महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों के विभिन्न दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला में कला विभागों से शिक्षित होते हैं, उन्हें कला शिक्षा का न तो प्रशिक्षण प्राप्त होता है और न ही विद्यालय में

विद्यालयों में कला शिक्षा के स्तर में सुधारों हेतु सुझाव

- कला शिक्षा को कक्षा 10 तक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाना चाहिए।
- ऐसे मूल्यांकन की आवश्यकता है जो कि परीक्षा पर आधारित न होकर प्रक्रिया संबंधी हो।
- कला शिक्षा विद्यार्थियों के लिए एक आनंददायी, उन्मुक्त अभिव्यक्ति हेतु सीखने की प्रयोगात्मक प्रक्रिया होनी चाहिए।
- विद्यालय तथा विद्यालय से बाहर कलात्मक गतिविधियों के लिए स्थान, समय एवं संसाधन एकत्रित करना प्रत्येक विद्यालय के लिए आवश्यक होना चाहिए।
- शिक्षा से संबंधित विभिन्न वर्गों में कला शिक्षा के प्रति अधिक जागरूकता पैदा करने की आवश्यकता है।
- कला शिक्षा पाठ्यक्रम के विभिन्न पहलुओं को प्रभावकारी ढंग से कार्यान्वित करने हेतु विद्यालयों एवं शिक्षकों के लिए स्पष्ट निर्देश होने चाहिए।
- शिक्षण-प्रशिक्षण एवं अभिविन्यास के विभिन्न स्तरों में सशक्त बदलाव लाए जाने की आवश्यकता है।
- उच्च प्राथमिक स्तर से कला शिक्षा को प्रशिक्षित एवं विशेषज्ञ शिक्षकों द्वारा पढ़ाया जाना चाहिए।

कला शिक्षा पद्धतियों का। वे अपनी विधा में तो प्रशिक्षित होते हैं परंतु कला शिक्षक के रूप में नहीं। वे 10-15 वर्ष के विद्यार्थियों के लिए कला शिक्षण की विधियों में दक्ष नहीं होते। एक शिक्षक की भूमिका विद्यार्थी के जीवन में वाहन की तरह होती है अतः शिक्षक को बाल मनोविज्ञान का ज्ञान, शिक्षाशास्त्र एवं शिक्षण विधाओं का ज्ञान होना भी आवश्यक है। कला शिक्षा गतिविधियों पर आधारित विषय है जिसके लिए पाठ्यपुस्तकों की जरूरत नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में शिक्षक की भूमिका और भी अहम हो जाती है। उन्हें अन्य शिक्षकों की अपेक्षा अधिक सजग, रचनात्मक एवं सृजनशील होना चाहिए।

कला शिक्षा का मुख्य धारा में महत्व न होने का अन्य कारण है विद्यार्थियों तथा अन्य शिक्षकों में कला-संबंधी व्यवसायों के बारे में विस्तृत जानकारी का न होना। शिक्षकों को कला शिक्षा को व्यावसायिक शिक्षा से जोड़ने, उसमें प्रशिक्षण पाने एवं कलाकार के रूप में जीविकोपार्जन करने के विषय में विद्यार्थियों को अवगत कराना चाहिए। कला शिक्षक को इस योग्य होना चाहिए कि वह विद्यालय प्रशासन, अभिभावकों और विद्यार्थियों को कला शिक्षा के विभिन्न पहलुओं से अवगत करा सके जिन्हें विद्यार्थी अपने दैनंदिन जीवन में या तो कलाकार के रूप में या कला पारखी के रूप में उतार सकें।

3. कला शिक्षा के उद्देश्य:

भविष्य की संकल्पना

एक विद्यार्थी के प्रखर व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में साहित्य, संगीत और कला सभी आवश्यक हैं।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

कला शिक्षा को विद्यार्थियों में रेखा, आकार, रंग, रूप, गति एवं ध्वनि में उपस्थित सौंदर्य के प्रति संवेदनशीलता विकसित करने के उपकरण के रूप में देखा जाता है। कला शिक्षा एवं सांस्कृतिक विरासत के प्रति सराहना के भाव साथ-साथ विकसित हो सकते हैं जिससे परस्पर समझ मजबूत होती है।

विद्यालयी शिक्षा की पाठ्यचर्या में कला शिक्षा को कक्षा 10 तक अनिवार्य विषय के रूप में सम्मिलित करने के विशेष लक्ष्य हैं जिनमें बच्चों के व्यक्तित्व के चहुँमुखी विकास में योगदान देना मुख्य है। शिक्षण-अधिगम की प्रक्रिया में बच्चों को आनंद उठाने में समर्थ बनाना भी एक उद्देश्य है। कला शिक्षा बच्चों को सांसारिक सौंदर्य की पूर्ण सराहना एवं अनुभव करने योग्य बनाती है तथा स्वस्थ मानसिक विकास में मददगार सिद्ध होती है। कला शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य बच्चों को प्रकृति के करीब लाना है जिससे वे अपनी धरोहर तथा परंपराओं से अवगत हों और एक दूसरे के कार्य को सम्मान से देखें।

शिक्षा के प्रारंभिक वर्षों में प्राप्त किये अनुभव को माध्यमिक स्तर पर संगीत, नृत्य, नाटक, रेखांकन और पेंटिंग, कठपुतली, पारंपरिक कलाओं एवं शिल्प, स्वास्थ्य एवं शारीरिक शिक्षा संबंधी गतिविधियों में भाग लेने का अवसर देकर संवर्द्धित किया जा सकता है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में यह आशा व्यक्त की गई है कि प्राथमिक स्तर पर ललित कलाओं के प्राप्त अनुभवों से विद्यार्थियों में आगे की अवस्थाओं में कला के विभिन्न रूपों का चुनाव करने हेतु न केवल पर्याप्त प्रेरणा और रुचि जागृत होगी

वरन् सौंदर्यात्मकता के प्रति संवेदनशीलता और परंपरा तथा विरासत के प्रति सम्मान भी जाग्रत होगा।

दुर्भाग्यवश, हमारी शिक्षा पद्धति भारत के महान शिक्षाविदों एवं दार्शनिकों को महत्व नहीं देती, जैसा कि श्री अरविंद ने कहा, 'प्लेटो ने अपनी पुस्तक *रिपब्लिक* में शिक्षा में संगीत के महत्व पर अत्यधिक बल दिया है; ऐसा संगीत जिसके लोग अभ्यस्त हों, वही उन लोगों के चरित्र को लक्षित करता है। चित्रकला और मूर्तिकला का महत्व भी कम नहीं है। जो देखा जाता है उसका सर्वाधिक प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है, यदि आँखें बाल्यावस्था से ही सौंदर्य, सामंजस्य और रूप-रंग देखने की अभ्यस्त होंगी तो बड़े होने पर उनकी रुचि, आदतें एवं चरित्र स्वतः उसी प्रकार के सौंदर्य, सामंजस्य और व्यवस्था का अनुसरण करेंगे...'

3.1 पूर्व-प्राथमिक स्तर

पूर्व-प्राथमिक स्तर पर दृश्य एवं मंचीय कलाएँ पूर्ण समन्वित रूप से पढ़ाई जानी चाहिए। सभी

विषयों को रेखांकन, चित्रकला, मृणमूर्त कला, रोल-प्ले, नृत्य, कहानी, संगीत आदि के माध्यम से पढ़ाया जाना चाहिए। कला शिक्षा के माध्यम से पढ़ाने का मुख्य उद्देश्य भी सामान्य शिक्षा के उद्देश्य के समान होना चाहिए।

इस स्तर पर बच्चों को बिना पाठ्यक्रम के बोझ के आनंदपूर्वक सीखने का अनुभव होना चाहिए। उन्हें अपने परिवेश एवं दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले मूल्यों की जानकारी दी जानी चाहिए। इस स्तर पर बच्चे द्वारा स्वतंत्र अभिव्यक्ति पर जोर दिया जाना चाहिए।

पूर्व-प्राथमिक स्तर पर कला माध्यम से शिक्षा देने का उद्देश्य मुख्यतः बच्चों में पांचों इंद्रियों को विकसित करना है। पाठ्यचर्या का यह क्षेत्र बच्चे के व्यक्तित्व के चहुँमुखी विकास के लिए अनुभव एवं क्रियाकलाप के अवसर प्रदान करता है। अतः इसे उनके विकास के स्तर के अनुरूप होना चाहिए। विशेषतः जहाँ संगीत, नाटक, रेखांकन, चित्रकला, मिट्टी के मॉडलों आदि द्वारा संतोषपूर्ण अनुभव दिये जाएँ, वहीं कहानी और कथानकों का चुनाव इस प्रकार हो कि वे बच्चों

प्राथमिक स्तर पर उद्देश्य

- आनंद का अनुभव
- बच्चे को अपने आस-पास के माहौल जिसमें कक्षा, विद्यालय, घर और समुदाय सम्मिलित हैं उसे स्वच्छ और सुंदर रखने के लिए कलात्मक विधाओं का प्रयोग करना सिखाना, जिसमें उसे आनंद आता हो।
- बच्चे को जीवन के विभिन्न पहलुओं पर अपने विचार और भावनाओं को स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त करना सिखाना।
- बच्चे में निरीक्षण, अन्वेषण एवं अभिव्यक्ति द्वारा सभी संवेदनाओं का विकास करना।

की जिज्ञासा, कल्पनाशीलता तथा आश्चर्यबोध बढ़ाने में प्रभावी भूमिका निभाएँ।

3.2 प्राथमिक स्तर

प्राथमिक स्तर पर कला को स्व-अभिव्यक्ति का माध्यम माना जाये। कला शिक्षा का लक्ष्य स्व-अभिव्यक्ति, सृजनात्मकता और स्वतंत्रता की अनुभूति के द्वारा मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य में योगदान देना हो।

3.3 उच्च प्राथमिक स्तर

प्राथमिक स्तर पर विद्यार्थियों द्वारा ललित कला के अनुभव उनमें विषय के प्रति पर्याप्त मात्रा में प्रोत्साहन एवं रुचि पैदा कर देते हैं। उच्च प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तरों पर कला की पाठ्यचर्या के उद्देश्य हैं शास्त्रीय एवं लोक कलाओं के प्रति जागरूकता और रुचि पैदा करना ताकि इस प्रक्रिया में शिक्षार्थी आनन्द ग्रहण करने तथा प्रदान करने वाले की भूमिका अदा करे। कला शिक्षा रचनात्मक अभिव्यक्ति का एक अत्यंत संतोषदायी माध्यम है जिसे समाज के हित के लिए महत्व

दिया जाना चाहिए। उच्च प्राथमिक स्तर पर कला शिक्षा का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों द्वारा सांस्कृतिक गतिविधियों में प्रतिभागिता, सामुदायिक मदद और कुछ आधारभूत सुविधाओं का निर्माण होना चाहिए।

3.4 माध्यमिक स्तर

माध्यमिक स्तर सौंदर्यबोधात्मक संवेदनशीलता का संवर्धन और प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक संरक्षण पर आधारित परियोजनाओं एवं भारतीय संस्कृति के अध्ययन के द्वारा सामाजिक मूल्यों को बढ़ावा देने वाले स्तर के रूप में पहचाना जाता है। कलाकारों (समुदाय में) के साथ काम करने के अवसर, समुदाय में पर्व एवं उत्सव मनाना, भौतिक पर्यावरण एवं आस-पास के दृश्य को सजाना इत्यादि के लिए यह सही अवधि है। इस स्तर पर कला शिक्षा में दृश्य एवं मौखिक संसाधनों और उनके अन्वेषण; रचनात्मक परियोजना कार्यों एवं उनका प्रदर्शन; अंतर्सामूहिक और अंतर्विद्यालयी गतिविधियाँ; अध्ययन भ्रमण तथा समुदाय के कलाकारों से साक्षात्कार; नाटक सहित समुदाय एवं आस-पास के क्षेत्रों में प्रचलित

उच्च प्राथमिक स्तर पर उद्देश्य

- आनन्द का अनुभव।
- विद्यार्थियों को विभिन्न कलाओं को पहचानने एवं सराहने के योग्य बनाना।
- संवेदनशीलता एवं सौंदर्यबोध की अन्तर्दृष्टि विकसित करना।
- कला के ज्ञान का जीवनचर्या एवं अन्य विषयों के साथ समन्वयन बनाना।
- विद्यार्थियों को अधिक सृजनात्मक बनाना।
- शिक्षार्थियों को देश की समृद्ध धरोहर के प्रति जागरूक बनाना।

माध्यमिक स्तर पर उद्देश्य

- आनंद का अनुभव।
- विद्यार्थियों को नए माध्यमों एवं तकनीकियों से अवगत कराना जो उनकी रचनात्मक अभिव्यक्ति एवं सामान्य जरूरतों की वस्तुओं को बनाने में सहायक सिद्ध हो सके।
- लोक कलाओं, क्षेत्रीय कलाओं एवं सांस्कृतिक घटकों की जानकारी के अवसर प्रदान करना जिससे वे राष्ट्रीय धरोहर और सांस्कृतिक विविधता की सराहना कर सकें।
- विद्यार्थियों को उनकी कलात्मकता एवं सौंदर्य अनुभूति को दैनिक जीवन में प्रयोग करने के योग्य बनाना।
- अपने क्षेत्र के कलाकारों के जीवन एवं कार्य से परिचित कराना।
- समुदाय के सहयोग से अपने क्षेत्र में उपलब्ध सामग्री के जरिये सृजनात्मक अभिव्यक्ति का विकास करना।
- प्रकृति एवं कलाओं के मूल तत्वों में उपस्थित सौंदर्य की प्रशंसा करने की क्षमता परिष्कृत करना।

पारंपरिक कला जिसमें कि समुदाय तथा पड़ोस में प्रचलित सामाजिक कला भी शामिल है, इन सबका गहन अध्ययन आदि अधिगम का हिस्सा होना चाहिए।

शिक्षा में दृश्य एवं मौखिक संसाधनों और उनके अन्वेषण; रचनात्मक परियोजना कार्यो एवं उनका प्रदर्शन; अंतर्सामूहिक और अंतर्विद्यालयी गतिविधियाँ; अध्ययन भ्रमण तथा समुदाय के कलाकारों से साक्षात्कार; नाटक सहित समुदाय एवं आस-पास के क्षेत्रों में प्रचलित पारंपरिक कला जिसमें कि समुदाय तथा पड़ोस में प्रचलित सामाजिक कला भी शामिल है, इन सबका गहन अध्ययन आदि अधिगम का हिस्सा होना चाहिए।

ऐसी गतिविधियों, कार्यक्रमों एवं विषयवस्तुओं का चुनाव किया जाना चाहिए जिससे भारत की सांस्कृतिक विरासत, स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास तथा पर्यावरण संरक्षण से जुड़े मूल्यों को बढ़ावा

मिल सके। कार्य करके सीखना एवं कला के विभिन्न रूपों के परिचय से शिक्षार्थी के अपने अनुभवों तथा स्व-अभिव्यक्ति को विस्तार मिलता है।

इस स्तर पर पाठ्यचर्या में प्रत्येक विषय विशिष्ट होता है एवं उसे पृथक् रूप से पढ़ाया जाता है। इसी प्रकार कला शिक्षा को भी एक विशेष विषय के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। माध्यमिक स्तर पर कला शिक्षा ऐसी हो जहाँ कला ज्ञान लेने का एक मार्ग बने। विश्व के साथ परस्पर बातचीत और सीखने की अमौखिक प्रक्रिया को कला शिक्षा उपलब्ध कराती है। ज्ञान-निर्माण एवं रचनात्मक सार्थकता का माध्यम बनती है। कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया विद्यार्थियों में सामाजिक यथार्थ, वैश्विक विचारों, भावनाओं और यहाँ तक कि मायावी जगत की जानकारी का अन्वेषण करने का अवसर देती है।

इस स्तर पर कला शिक्षा मीडिया तथा कलाकारों की सामग्री को शामिल करेगी।

3.5 उच्चतर माध्यमिक स्तर

शिक्षा में यह स्तर सर्वाधिक चुनौती भरा होता है जहाँ विद्यालयों में बहुत कम ही विद्यार्थी प्रवेश पाते हैं। कक्षा 11-12 में कला एक अनुशासित विषय की ओर उन्मुख होती है।

कला शिक्षा से तात्पर्य है समुदाय की सांस्कृतिक विरासत के बारे में जानना, कलात्मक सौंदर्य की भाषा सीखना, विवेचना एवं कला इतिहास की पूर्ण जानकारी प्राप्त करना। इसके साथ ही कला संबंधी विभिन्न व्यवसायों के बारे में जानकारी लेना और स्वयं को कला जगत में एक कलाकार, एक रचनाकार, आलोचक अथवा कला पारखी के रूप में प्रवेश पाने के लिए तैयार करना।

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर उद्देश्य

- कला रूप में दक्षता प्राप्त करना।
- कला संबंधी किसी व्यावसायिक पाठ्यक्रम के लिए तैयार होना।
- अपने क्षेत्र, देश अथवा विश्व के कलाकारों एवं उनके कार्य की जानकारी कला इतिहास के माध्यम से प्राप्त करना।
- विभिन्न माध्यमों के प्रयोग द्वारा स्व-अभिव्यक्ति के तरीकों का विकास करना।
- कला में आनंद का अनुभव करना।

शैक्षिक सरोकारों के बरक्स

(जॉन हॉल्ट की बहुचर्चित पुस्तक 'शिक्षा के बजाय'* की विवेचनात्मक समीक्षा)

शारदा कुमारी**

'शिक्षा के बजाय' जॉन हॉल्ट की उन विचारोत्तेजक पुस्तकों में से एक है जो स्व निर्देशित, उद्देश्यपूर्ण, सार्थक जीवन और काम के पक्ष में और सक्रिय जीवन से कटकर भय के दबाव में सीखने के विरुद्ध है। छोटे बच्चों की जिज्ञासा, ऊर्जा और उत्साह के बारे में या जो कुछ वे करते हैं उसे यथासंभव अच्छे से अच्छा करने की इच्छा के बारे में हम जो कुछ जानते हैं और देख सकते हैं, उसके मद्देनजर यह पुस्तक सवाल उठाती है कि उन्हें इस तरह के काम करने, इस तरह का जीवन जीने और इसे सहने के लिए तैयार किया जा रहा है या कुछ और?

शिक्षा के बजाय पुस्तक दर्शाती है कि कैसे हम अपने पूरे समाज को एक ऐसी जगह में बदल सकते हैं जहाँ सही मायनों में सीखा जा सकता है। यह सुझाती है कि स्कूल बच्चों को अपना जीवन जीने, अपनी रुचियों को आगे बढ़ाने और सफलता हासिल करने के अपने तरीकों को खोजने की पूरी आजादी और पर्याप्त समय दें। प्रस्तुत लेख 'शिक्षा के बजाय' के ज़रिए शिक्षा तंत्र के उद्देश्यों और शैक्षिक प्रक्रिया पर उठे सवालों के जवाब खोजने की कोशिश करता है।

सुपरिचित शिक्षाशास्त्री जॉन हॉल्ट की सबसे अधिक विचारोत्तेजक पुस्तक 'शिक्षा के बजाय' (मूल पुस्तक *Instead of Education* का अंग्रेजी से श्री सुशील जोशी द्वारा अनुवाद) शैक्षिक संस्थाओं में घर कर गई उन सभी विषमताओं और अंतर्द्वंद्वों के प्रति बेचैनी प्रकट करती है जो एक ओर तो दावा करती हैं समान सामाजिक व्यवस्था और चिंतनशील समाज की स्थापना का

* जॉन हॉल्ट, *इंस्टेड ऑफ़ एजुकेशन*, सुशील जोशी (अनुवादक), एकलव्य, भोपाल, जून 2007, मूल्य ₹ 110, पृ. सं. 264

** वरिष्ठ प्रवक्ता, मं शि एवं प्र. संस्थान, आर. के. पुरम्, नयी दिल्ली-22

और दूसरी ओर अपने ही रूप-स्वरूप के कारण समाज को भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त करती जा रही हैं। इतना ही नहीं बल्कि लोगों के सोचने-समझने की शक्ति को भी कुंद करती जा रही हैं।

भारतीय शैक्षिक समाज में यह पुस्तक ठीक उस समय अपने पैर जमाने की कोशिश कर रही है जब 'मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा के अधिकार अधिनियम, 2009' की दुंदुभि चारों तरफ बज रही है। एक तरफ सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था से जुड़ी हर छोटी-बड़ी इकाई अनिवार्य शिक्षा के इस अधिनियम को क्रियान्वित करने की तरह-तरह की योजनाएँ बनाने में पसीने से तर-ब-तर हो रही है और उधर इस पुस्तक की हर पंक्ति यह चेतावनी दे रही है कि 'अनिवार्य शिक्षा' के जिस स्वरूप को थोपने में सारा सरकारी, गैर-सरकारी तंत्र बेचैन हुए जा रहा है, वह दरअसल सत्ताधारियों का समाज को तोड़ने वाला सबसे घातक विनाशकारी आविष्कार है। यह कहकर पुस्तक पाठकों को सहमने के लिए छोड़ भर नहीं देती, अपितु बदलाव के लिए सृजनात्मक सुझाव और व्यावहारिक युक्तियाँ भी सुझाती है। 'शिक्षा के बजाय' अट्टारह कथात्मक रिपोर्टाजों का संग्रह है। इनमें कुछ ऐसे दृश्य भी हैं जो स्कूली शिक्षा व्यवस्था की भीतर तक जाँच-पड़ताल करते हैं और उससे जुड़े मुद्दों पर अपनी राय भी पेश करते हैं।

पुस्तक के पहले ही पृष्ठ पर लेखक दुनिया भर में प्रचलित शिक्षा की चिर-परिचित परिभाषा की खिलाफत करता नजर आता है—“इस समय

स्कूलों में दी जा रही शिक्षा वह चीज है जो कुछ लोग अन्य लोगों पर उनके ही भले के लिए करते हैं, उन्हें आकार देते हैं, ढालते हैं और उन्हें वह सिखाने की कोशिश करते हैं जो उनकी नजर में अन्य लोगों को जानना चाहिए।” लेखक के अनुसार सामयिक चुनौतियों के दबाव में हमारी स्कूली शिक्षा व्यवस्था में 'सिखाने' की गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए जिस तरह की कवायदें हो रही हैं, दरअसल वे शिक्षा को कारगर बनाने की जगह इसे और बदतर बनाने व अधिक नुकसान पहुँचाने की दिशा में ही काम कर रही हैं क्योंकि जो कुछ भी किया जा रहा है उसका मकसद न तो विवेकपूर्ण है और न ही मानवीय।

जीवन के अधिकार के बाद हमारा सबसे बुनियादी मानव अधिकार अपने दिमाग और विचारों पर नियंत्रण का अधिकार है। इसका मतलब है कि हमें स्वयं के लिए यह तय करने का अधिकार है कि हम अपने आस-पास की दुनिया की खोजबीन कैसे करें, अपने व अन्य लोगों के अनुभवों के बारे में कैसे सोचें और कैसे जीवन के अर्थ की तलाश करें। हमें 'शिक्षित' करने की कोशिश में जो कोई भी यह अधिकार हमसे छीनता है वह हमारे अस्तित्व के केंद्र पर हमला करता है और हमें सबसे गहरी और स्थायी चोट पहुँचाता है। कुल मिलाकर वह हमें बताता है कि हम तो सोच भी नहीं सकते और अपने अनुभवों के आधार पर जो अर्थ हम अपने आप लगाते हैं उसका कोई मूल्य नहीं है। अनिवार्य शिक्षा के इसी ढाँचे को लेखक समाज के लिए

एक बहुत बड़ा खतरा बताता है। तात्कालिक बाजारवादी दबाव शिक्षा को इसी तरह का रूपाकार देने में बराबर जुटे हुए हैं। मानव स्वतंत्रता और गरिमा को संजीदगी से लेने वाले लोगों की ओर मुखातिब होते हुए लेखक स्पष्ट करता है कि बच्चे कुछ अधिक सीखेंगे और इस दुनिया से जूझने के लिए उनकी तैयारी कहीं अधिक होगी यदि वे दुनिया को अपने तरीके से खोज पाएँ, ज़्यादा-से-ज़्यादा क्षेत्रों में अपने जीवन को स्वयं दिशा-निर्देश दे पाएँ और उसे नियंत्रित कर पाएँ। दरअसल बच्चों को भी मालूम होता है कि उन्हें क्या सीखना है और कैसे सीखना है। उन्हें लगातार एक दूसरे के खिलाफ एक ऐसी दौड़ में न हाँका जाए जिसमें कुछ को छोड़कर बाकी सबका हारना तय है।

मानव स्वतंत्रता और गरिमा को संजीदगी से लेने वाले समाज के लिए एक प्रकार से चेतावनी समझी जाने वाली इस पुस्तक के भीतर लेखक पाठकों के सामने बहुत से चौंकाने वाले तथ्य प्रस्तुत करता है। स्कूलों में दिये जाने वाले जबरन अनुभवों से बच्चे कुछ भी अच्छा नहीं सीखते बल्कि सीखना तो तभी होता है जब हम वास्तविक सरोकारों और वास्तविक जरूरतों से पैदा हुई जिज्ञासा के आधार पर कुछ कर रहे होते हैं।

‘सीखने का मिथक’ नाम से पुस्तक का यह अंश भारतीय स्कूली शिक्षा व्यवस्था के उन पैरोकारों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है जो स्कूलों में बच्चों द्वारा कम सीखे जाने को लेकर अतिशय चिंता में आकंठ डूब जाते हैं और शिक्षकों के लिए तरह-तरह के प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन

कर बच्चों को सिखाने संबंधी अविचारित तकनीकों का प्रचार-प्रसार करते हैं।

‘सीखना’ और ‘करना’ दो अलग-अलग क्रियाएँ हैं, इस गलतफ़हमी की ओर ध्यान दिलाते हुए जिम हर्न डन की उस कक्षा का हवाला दिया गया है जहाँ बच्चे वे चीजें भी नहीं सीख पाते थे जो वे स्कूल से बाहर इतनी अच्छी तरह से कर लेते थे। जिन चीजों को हम गलती से ‘ज्ञान का भंडार’, ‘सीखने के क्षेत्र’, ‘अकादमिक विषय’ के रूप में देखते हैं वे संज्ञाएँ नहीं बल्कि क्रियाएँ हैं। ये सब इंसानी क्रिया-कलापों के कार्यक्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में हम जो भी करते हैं, वह पहले से ही दूसरे लोगों द्वारा किये गए काम से जुड़ जाता है और उसका हिस्सा बन जाता है। ‘पढ़ना सीखने’ के संदर्भ में लेखक ‘पढ़ने’ की बहुप्रचारित परिभाषाओं की अपेक्षा अनुभवजन्य परिभाषा पर भरोसा करता है। ‘पढ़ने’ को वह कोई हुनर या कौशल न समझकर काम समझता है। देशव्यापी उपलब्धि सर्वेक्षणों से पता चलता है कि विद्यालय में पाँच-छह वर्ष बिताने के बाद भी बहुत से बच्चे पढ़ना-लिखना नहीं सीख पाते हैं। सर्वेक्षणों से प्राप्त इन नतीजों को लेकर तमाम बुद्धिजीवी, शिक्षा नीतिकार आकंठ चिंता में डूब जाते हैं और बहुस्तरीय बैठकों में तरह-तरह की युक्तियाँ ढूँढ़ निकालने में दिन-रात एक कर देते हैं। उन्हें लेखक द्वारा चिह्नित ‘पढ़ना सीखने’ की प्रक्रिया पर गौर करना चाहिए। बच्चे चारों ओर अपने परिवेश में लिखित शब्द देखते हैं। वे समझते हैं कि बड़े लोग इन शब्दों का तरह-तरह से इस्तेमाल करते हैं। ये शब्द उनके तरह-तरह से काम में

आते हैं। जिस दिन वे जान लेते हैं कि 'ये शब्द आखिर करते क्या हैं?', वे पढ़ना शुरू करने में देर नहीं लगाते। निश्चित रूप से शुरूआती दौर में वे एक-दो शब्द ही पढ़ पाएँ या हो सकता है, वह भी न पढ़ पाएँ पर यदि उन्हें छूट मिले इस बात की कि अपने तरीके से और अपने कारणों से लिखित शब्दों के अर्थ वे खोज सकते हैं और मनचाही मदद भी प्राप्त कर सकते हैं, तो वे बहुत ही कम अवधि में अच्छी तरह पढ़ना शुरू कर देंगे। लेखक के लिए (और हम सब पाठकों के लिए भी) सबसे बड़ी हैरानी की बात तो ये है कि 'कितने बच्चों ने स्वयं पढ़ना सीखा और कैसे?' इस विषय पर कोई शोध हुआ या नहीं, सैकड़ों शिक्षाविद् नहीं जानते।

'सत्ता बनाम सच्चाई' शीर्षक के अंतर्गत जार्ज डेनिसन की पुस्तक 'द लाइव्स ऑफ चिल्ड्रन' का हवाला देते हुए लेखक स्कूली प्रक्रियाओं के प्रति अपनी खिलाफत दर्ज करते हुए कहता है कि स्कूलों में बच्चों का शिक्षकों के साथ वास्तविक आदान-प्रदान नहीं होता है। शिक्षक वहाँ स्वयं व्यक्ति नहीं होते अपितु किसी भूमिका को निभाने वाले पात्र मात्र होते हैं। वे उन सब बातों को बच्चों के सामने नहीं लाते जो उनका यथार्थ है, जो वे जानते हैं, जिसमें उनकी रुचि है, जिससे उनको प्रेम है, बल्कि उसकी बात करते हैं जो पाठ्यक्रम द्वारा करने के लिए कही जाती है। स्कूलों में बच्चों की क्रियाओं और ज़रूरतों पर स्वाभाविक रूप से ध्यान नहीं दिया जाता। दरअसल ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अध्यापक स्कूलों में किसी-न-किसी अदृश्य

डर से घिरे रहते हैं। इस संदर्भ में इस पुस्तक से पंक्ति उद्धृत है—“यदि मैं ऐसा करूँ या ऐसा कहूँ या छात्रों को ऐसा करने दूँ या कहने दूँ तो क्या मैं मुश्किल में फँस जाऊँगा/जाऊँगी।” लेखक की नज़र में अध्यापकों का यह डर बेबुनियाद नहीं है क्योंकि हर सामाजिक व्यवस्था में बहुत से अध्यापक सच बताने के लिए किसी-न-किसी रूप में दंडित हुए हैं और यही वह कारण है कि स्कूलों में शिक्षक और बच्चों के बीच ईमानदार संवाद की गुंजाइशें खत्म हो जाती हैं। अन्ततः परिणाम यही होता है कि स्कूलों में 'सीखने' या 'करने' जैसी क्रियाएँ पनप ही नहीं पातीं। पुस्तक के चौथे रिपोर्टाज 'करने वालों के लिए संसाधन' से प्रतीत होता है कि लेखक इवान इलिच की 'डीस्कूलिंग सोसायटी' में प्रस्तुत प्रस्तावों से बहुत अधिक प्रभावित है। बोस्टन के 'बीकन फ्री स्कूल' और शिकागो के उत्तर में बसे उपनगर 'इवैस्टन' के 'द लर्निंग एक्सचेंज' में सीखने और करने से जुड़ी गतिविधियों की एक लंबी फेहरिस्त गिनाई गई है। मानव अनुभव और रुचियों की असाधारण विविधता का एक अच्छा अंदाज मिलता है इस फेहरिस्त से। न्यूयार्क के जेम्सटाउन का पुस्तकालय किस तरह से किस्म-किस्म की चीजों के सीखने के आदान-प्रदान का केंद्र बनकर कार्य कर रहा है, इसका भी खूबसूरत शब्दचित्र उकेरा गया है इसी अध्याय में।

'करने वाले और उनके शिक्षक' शीर्षक में अपने पेशे को संजीदगी से लेने वाले अध्यापकों को बहुत से चमत्कारी सुझाव प्राप्त होंगे। किसी

भी कार्य को 'सीखने और करने' के संदर्भ में लेखक अध्यापकों को वैचारिक संपदा से परिचित करवाना चाहता है कि विद्यार्थियों को यह महसूस करने में मदद मिलनी चाहिए कि अमुक कार्य को करना कैसा रहेगा और कैसा लगेगा। बड़े सीधे-सपाट शब्दों में अध्यापक विद्यार्थियों को सुझाव दें कि किसी काम को वास्तव में करने से पहले ज़रूरी है कि उस कार्य का मन में एक चित्र बना लिया जाये। इसके बाद बारी आती है क्रमबद्धता, खोजबीन और आविष्कार के अवसर और फिर फ्रीडबैक। सीखने वाले को यह सब शिक्षक के अतिरिक्त कहीं और से मिल सकता है, इसके बारे में लेखक को संदेह है। इस संदेह के रहते वह यह भी स्पष्ट कर देना चाहता है कि अध्यापक 'मार्गदर्शन' के सही अर्थों को समझें। मार्गदर्शन का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि बच्चों को हर जगह और हर समय यह बताना पड़े कि उन्हें क्या करना है और क्या नहीं? यहाँ पर मार्गदर्शन को 'सलाह' से जोड़ने का सुझाव दिया जा रहा है। इसी शृंखला को आगे बढ़ाते हुए लेखक पाठकों को विद्यालयी शिक्षा में बरसों से रची-बसी परीक्षा पद्धति का तार्किक विवेचन करने के लिए बाध्य करता है।

दरअसल परीक्षा या इम्तिहान का जायज़ उपयोग तो यही है कि पता लगाया जाये कि छात्र कहाँ है ताकि शिक्षक कार्यों को बेहतर क्रम में जमा सके और खोजबीन में छात्र की मदद कर सकें। पर परीक्षा का स्वरूप इसके बिल्कुल विपरीत है। विंस्टन चर्चिल की बात को उद्धृत करते हुए लेखक रेखांकित करता है कि “स्कूलों

में टेस्ट यह जानने के लिए नहीं दिये जाते हैं कि आप क्या जानते हैं, बल्कि यह जानने के लिए दिये जाते हैं कि आप क्या नहीं जानते? इनका मकसद यह भी नहीं होता कि आपको मदद दी जा सके, या फिर आप वह सब जान सकें जो आप नहीं जानते हैं बल्कि इनका मकसद आपको मात्र यह बताना होता है आप अन्य छात्रों से बेहतर हैं या बदतर।” होना तो यह चाहिए कि प्रत्येक छात्र के लिए शिक्षक अलग-अलग टेस्ट तैयार करें। जिससे छात्र जो कुछ बेहतर ढंग से जानता है वही उभरकर आए।

'कुछ और शिक्षक' हिस्से में किताब उन शाश्वत प्रश्नों से जुड़ती है जिनसे सभी शिक्षक अपने अध्यापन काल में एक बार नहीं, कई-कई बार दो-चार हो चुके होंगे। लेखक के अनुसार अभी तक शिक्षा व्यवस्था में जो कुछ हो रहा है, दरअसल वह सब उलटे क्रम में हो रहा है। जैसे कि किसी शब्द का उच्चारण व अर्थ जानने से पहले बच्चे को पूरी बारहखड़ी मात्राएँ, संयुक्ताक्षर वगैरह सब सीखने के लिए कहते हैं। विद्यालय में बच्चों को सिखाने से जुड़ी तरह-तरह की कड़वी मिसालों के बरक्स कुछ रोचक उदाहरण भी पुस्तक में मिल जाते हैं। उनमें से एक यहाँ भी प्रस्तुत है—

“एक बार पाँच साल के एक बच्चे ने मुझसे पूछा कि चोट लगने पर कैसे खून बाहर आने लगता है। मैंने उससे पूछा कि 'क्या उसे पता है कि उसका हृदय कहाँ है? और क्या करता है?' उसे नहीं पता था। तब मैंने उसे दस बार ऊँचा-से-ऊँचा उछलने के लिए कहा। उसने काफी

संजीदगी से ऐसा किया। फिर मैंने उससे अपना हाथ अपने सीने पर बाईं ओर रखने के लिए कहा। उसकी आँखें फैल गईं। उसके अंदर कोई चीज़ धक-धक कर रही थी। उसने पहले कभी अपने अंदर उस चीज़ को महसूस नहीं किया था। अब उसे बताना आसान था कि हृदय हर धक-धक के साथ दबता है, और खून को पतली-पतली नलियों में दौड़ाने का काम करता है। चोट लगने पर कटी नली से खून बाहर आता है।”

बिल बर्नहार्ट के लेख ‘ए शॉर्ट कोर्स इनज़स्ट राइटिंग’ के ज़रिए लेखन को दुरुस्त करने और लेखन क्षमता बढ़ाने के लिए सूझ-बूझ से भरे और उपयोगी कारगर तरीके पाठकों को अर्चभित करेंगे।

एक और रोमांचकारी तथ्य पेश किया है लेखक ने। वह यह कि लोगों को सही जवाब देना सिखाना बहुत आसान है। जो चीज़ सिखाना मुश्किल है वह है, सही सवाल पूछना, सवाल जो रोचक हों, महत्वपूर्ण हों, उपयोगी हों और दूरगामी हों। स्कूल की पाठ्यपुस्तकें अच्छे सवालों की बानगी पेश नहीं करतीं। वे हमें सही जवाब तो बताती हैं, मगर यह नहीं बतातीं कि किन सवालों ने लोगों को ये जवाब खोजने को प्रेरित किया था। इसलिए हमें इस बात का बहुत ही कम पता चलता है कि महत्वपूर्ण विचारकों ने किस तरह के अच्छे सवाल पूछे हैं।

डेनमार्क के नॉय लिलस्कूल की बात किये बिना पुस्तक की समीक्षा अधूरी ही रहेगी। ‘एक अच्छा स्कूल’ शीर्षक के अंतर्गत नॉय लिलस्कूल

शिक्षणशाला (स्कूल) का बहुत ही खूबसूरती के साथ शब्दचित्र उकेरा गया है। लेखक इस स्कूल के जीवंत दिलचस्प, खुशनुमा, सुरक्षित, विश्वासी, सहयोगी व सामुदायिक वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित हैं। यहाँ साझा संपत्ति को नष्ट किये बिना और एक दूसरे को नुकसान पहुँचाए बिना सब वही करते हैं जैसा उन्हें ठीक लगता है। बिना किसी शैक्षिक कार्यक्रम के, बिना किसी पाठ्यपुस्तक या परीक्षा के यह स्कूल बच्चों को सीखने-करने के मजेदार भरपूर अवसर देता है।

‘शिक्षा के बजाय’ में लेखक ने शैक्षिक व्यवस्था का जो परिदृश्य हमारे सामने प्रस्तुत किया है, वह किसी और समाज का नहीं बल्कि अपनी ही परिस्थितियों के भीतर दरकी सच्चाईयों का आईना लगता है। पुस्तक का हिंदी में अनुवाद किया है श्री सुशील जोशी ने। अनुवाद का तेवर विषय-वस्तु के मिजाज़ से मेल खाता है। पुस्तक कई अंशों में बिखरी हुई है। उससे अनुमान तो यह हुआ कि हर अंश का अंदाज़े-बयाँ विशिष्ट होगा पर ऐसा बहुत जगह नहीं हो पाया है। अनुवाद गुणयुक्त और प्रवाहपूर्ण है। उसकी बुनावट सरल और सादगीपूर्ण है, कहीं-कहीं प्रभावशाली रूप में किस्सागोई भी उभर कर आई है।

अंततः, कहना चाहूँगी कि ‘शिक्षा के बजाय’ शैक्षिक परंपराओं के कटघरों के विरुद्ध वह रणभेरी है जिसे शिक्षा के अधिकार अधिनियम के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा और जिसकी खुली चुनौती का सामना हमें करना होगा।

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम— डेवेलपिंग टीचिंग कंपीटेंसीज़

संपादक— एम.एस. बावा व बी.एम. नागपाल

प्रकाशक— बीवा बुक्स, नयी दिल्ली

मूल्य— 595 रुपये

पृष्ठ— 229

किसी भी सेवापूर्ण प्रशिक्षण कार्यक्रम (जैसे- बी.एड.) के पाठ्यक्रम में भावी शिक्षकों में शैक्षिक कौशलों का विकास करना एक प्रमुख उद्देश्य होता है। ये कौशल क्या हैं? व भावी शिक्षकों को इनमें पारंगत कैसे किया जा सकता है, यही बावा व नागपाल द्वारा संपादित उपरोक्त पुस्तक की विषय-वस्तु व विशेषता है।

इस पुस्तक में कुल 13 अध्याय हैं जो विभिन्न कौशलों की जानकारी देते हैं। पुस्तक की शुरुआत 'सूक्ष्म-शिक्षण' नामक पाठ से होती है। सूक्ष्म शिक्षण एक ऐसी विधा है जिसमें छात्र शिक्षक को स्कूलों में जाने से पूर्व कक्षा-शिक्षण के लिए छोटे स्तर पर तैयार किया जाता है। पाठ-2 से 8 विभिन्न शैक्षिक कौशलों का वर्णन करते हैं। ये हैं—प्रश्नोत्तर कौशल, कक्षा में छात्र प्रतिक्रिया को नियंत्रित करने का कौशल, स्पष्टीकरण का कौशल, उदाहरण देने का कौशल, प्रोत्साहित करने का कौशल, उद्दीपन परिवर्तन का कौशल व श्यामपट्ट-कार्य कौशल।

पाठ-9 अच्छे शिक्षक के एक दूसरे गुण कक्षा प्रबंधन पर विचार करता है। अगर किसी शिक्षक को अपने विषय का तो अच्छा ज्ञान है परंतु वह कक्षा प्रबंधन (नियंत्रित) करने में अक्षम है तो वह कभी भी कक्षा में प्रभावशाली शिक्षण कार्य कर ही नहीं सकता क्योंकि उसका पूरा समय तो छात्रों को अनुशासित करने में ही व्यतीत हो जायेगा। अतः कक्षा प्रबंधन एक ऐसा कौशल या कला है जिसे सीखना हर शिक्षक के लिए आवश्यक होता है। अध्याय-9 कुछ ऐसी ही विधाओं का वर्णन करता है जिससे भावी शिक्षक इस कौशल को सीख सकें।

अध्याय-10 इंटरैक्टिव टीचिंग की बात करता है, अर्थात् शिक्षक व छात्र के बीच आपसी वार्तालाप द्वारा शिक्षण (भयमुक्त वातावरण में)। शिक्षक किस प्रकार शिक्षण को इंटरैक्टिव बना सकता है, यह पाठ इसी की विवेचना करता है। पाठ-11 शिक्षण में छात्र-केंद्रित दृष्टिकोण पर प्रकाश डालता है। इस पाठ में इसके अर्थ, इसकी आवश्यकता, इसके ऐतिहासिक पक्ष, आदि पर विस्तार से चर्चा की गई है। अध्याय-12 छात्रों में गैर-संज्ञानात्मक गुणों के विकास की व्याख्या करता है। गैर-संज्ञानात्मक गुणों से क्या तात्पर्य है, इनके प्रकार व उनकी व्याख्या तथा इनको विकसित करने के तरीकों पर इस अध्याय में चर्चा की गई है। अंतिम अध्याय-13 प्रैक्टिस टीचिंग कार्यक्रम (स्कूलों में 20 से 40 दिन का नमूना शिक्षण) के संगठन पर विचार करता है। इस कार्यक्रम में मुख्य भूमिका निभाने वाले व्यक्तियों जैसे-सुपरवाइजर व स्कूल प्रिंसिपल की भूमिकाओं/उत्तरदायित्वों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार कार्यक्रम से जुड़े अन्य जरूरी कार्यकलापों जैसे सेल्फ ऐपरेजल स्केल, पीउर ओबजर्वेशन आदि का विवरण भी इस पाठ में दिया गया है।

कुल मिलाकर पुस्तक की विशेषता इसकी पठन सामग्री है। प्रत्येक अध्याय में विभिन्न कौशलों की विस्तृत विवेचना के पश्चात उनका भाव स्पष्ट करने के लिए अनेकों उदाहरणों की मदद ली गई है। साथ ही प्रत्येक पाठ के अंत में कौशल को विकसित करने की प्रक्रिया को दर्शाती एक नमूना पाठ-योजना भी दी गई है, जो इस पुस्तक की एक अन्य विशेषता है। अध्याय-11 में (छात्र-केंद्रित दृष्टिकोण) देश-विदेश में चलाए जा रहे एक्सपेरिमेंटल स्कूल संस्थाओं का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसी प्रकार गैर-संज्ञानात्मक गुणों को भी सोदाहरण स्पष्ट किया गया है। इस पुस्तक का एक अन्य आकर्षण है प्रत्येक पाठ के अंत में दिया गया संक्षिप्त सार व संदर्भ।

कहीं-कहीं पुस्तक में सुधार की आवश्यकता भी महसूस होती है। जैसे- यदि पुस्तक की शुरुआत अंतिम अध्याय 'प्रैक्टिस टीचिंग का संगठन' से की जाती तो बेहतर रहता। इसी अध्याय में छात्र-अध्यापक के वर्गीकरण के आधारों में शिक्षण के माध्यम को भी जोड़ा जाना चाहिए। पृष्ठ 207 पर दिल्ली विश्वविद्यालय व गुरु गोविन्द सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय द्वारा चलाए जा रहे बी. एड. कार्यक्रम का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए बताया गया है कि इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय में प्रैक्टिस टीचिंग दो फ्रेज़ में होती है। पुस्तक में लिखा है कि यहाँ प्रथम फ्रेज़ के शिक्षण के (एक या दो महीने) के पश्चात दूसरा शिक्षण ब्लॉक टीचिंग का होता है जिसकी अवधि दो सप्ताह होती है। दूसरे शिक्षण में ब्लॉक टीचिंग की बात सही नहीं है। यहाँ दूसरा फ्रेज़ फाइनल टीचिंग का होता है जिसमें बाह्य परीक्षक द्वारा छात्रों की शिक्षण काबिलियत का मूल्यांकन होता है। इस तथ्यात्मक गलती को सुधारने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार प्रश्नोत्तर कौशल वाले अध्याय में यदि प्रश्न पूछने की कला पर भी विचार किया जाये तो अच्छा होगा। इसी प्रकार इंटरैक्टिव टीचिंग वाले अध्याय से कुछ पठन सामग्री की छँटनी करके उसे छोटा व पठनीय बनाने की आवश्यकता महसूस होती है।

कुल मिलाकर पुस्तक भावी शिक्षकों में विभिन्न शैक्षिक कौशलों का विकास करने के उद्देश्य को पूरा करती प्रतीत होती है। यद्यपि पुस्तक अभी केवल अंग्रेज़ी में है परंतु जल्द ही इसका हिंदी संस्करण प्रकाशित होने की संभावना है। यह पुस्तक प्रत्येक शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए उपयोगी बन पड़ी है। केवल टीचर एजुकेटर व भावी शिक्षक ही नहीं, सेवार्त् शिक्षकों के लिए भी यह पुस्तक पठनीय है। मेरा मानना है कि शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाने वाले प्रत्येक संस्थान की लाइब्रेरी में यह पुस्तक होनी चाहिए।

नीरज प्रिया

एन-16, नवीन शाहदरा

दिल्ली 110 032